"जयशंकर प्रसाद की कहानियों में यथार्थ चेतना"

(एम० फिल० (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध- निर्देशक

डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधकर्त्ता

सत्य प्रकाश गुप्ता

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नयी दिल्ली–110067

1993

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

SCHOOL OF LANGUAGES
CENTRE OF INDIAN LANGUAGES

Dated: 21.7.1993

CERTIFICATE

Certified that the material in this dissertation entitled " JAISHANKER PRASAD KI KAHANEION MEIN YATHARTH CHETNA" submitted by Sh. Satya Prakash Gupta has not been previously submitted for any other degree of this or any other University.

Dr. Purushottam Agrawal
Supervisor
CIL|SL|JNU
New Delhi-67

Prof. K.N.Singh
Chairperson
CIL|SL|JNU
New Delhi-67

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

भूमिका

जयशंकर प्रसादजी की कहानियों में यथार्थ-परख की मेरी अभिरूचि का मुख्य कारण है - उनकी कहानियों में उनकी स्वच्छंदतावादी प्रकृति की छाया का विद्यमान होना । उनकी स्वच्छंद-कल्पना अधिकांश कहानियों में कवित्वमयी वातावरण उत्पन्न करती है । जीवन का यथार्थ भी कवित्वमय हो जाता है । साहित्य के कहानी रूप में जीवन के सत्य को उद्‌घाटन करने की अपार क्षमता होती है, पर प्रसादजी की कहानियों में, ऐसा शीघ्र नहीं हो पाता है । उन कहानियों की रचना प्रक्रियाओं से गुजरने पर ही जीवन का सत्य या समाज की वास्तविकता से साक्षात्कार होता है; प्रसादजी की कहानियों की इसी विशेषता या दुरूहता ने मुझे प्रसादजी की कहानियों में यथार्थ की खोज की ओर प्रवृत किया । प्रेमचंद कहानी-परम्परा से भिन्न प्रसादजी की कहानियाँ हैं । प्रसादजी की कहानियों पर आत्मपरकता का आरोप भी लगा है, जबकि कहानी अपनी रचना-प्रक्रिया में कविता की अपेक्षा जीवन से अधिक निकट का संबंध रखती है। प्रसादजी कहानियों के इस नए रूप ने भी मुझे इस विषय की ओर खींचा ।

"जयशंकर प्रसाद की कहानियों में यथार्थवाद के अध्ययन का प्रस्ताव जब मैंने अपने शोध-निर्देशक डा॰ पुरूषोत्तम अग्रवाल जी के समक्ष रखा, तो उन्होंने अपनी स्वीकृति देकर पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया ।

सम्पूर्ण शोध-प्रबंध चार अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में यथार्थवाद की भाववादी और भौतिकवादी अवधारणाओं, यथार्थ की चयन-प्रक्रिया,

यथार्थ और कल्पना के संबंध, यथार्थ की पहचान और यथार्थवाद तथा विचारधारा के बीच के संबंधों की विशद व्याख्या है और इस पृष्ठभूमि में प्रसादजी के यथार्थवाद की अवधारणा की व्याख्या भी सम्मिलित है ।

द्वितीय अध्याय में समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्थितियों का प्रसाद जी की कहानियों में यथार्थ-चित्रण का अध्ययन किया गया है । इतिहास और संस्कृति किस तरह से वर्तमान जीवन की स्थितियों में योग देते हैं, इसे भी इस अध्याय में समेटा गया है ।

तृतीय अध्याय में यथार्थ के निकष पर प्रसादजी की कहानियों की चर्चा की गई है । यथार्थ अपनी प्रकृति में पक्षधर है । प्रसादजी की कहानियों में इसकी खोज की गई है - चतुर्थ अध्याय में प्रसादजी कहानी की भाषा का विश्लेषण किया गया है । कहानी में भाषा की भूमिका, भाषा का यथार्थ और यथार्थ की भाषा का अध्ययन भी सम्मिलित किया गया है ।

इस सम्पूर्ण अध्ययन का सारांश निष्कर्ष रूप में उपसंहार में शामिल किया गया है ।

इस शोध को सम्पन्न करने में मेरे माता-पिता और गुरूजनों के अतिरिक्त अनेक मित्रों ने बहुमूल्य सुझाव दिया; शोध-प्रबंध लेखन की अवधि में रमेशजी, नवीनजी, सत्यानंद, राकेश, दुर्गा व चमन ने कई प्रकार से मेरी सहायता की, मैं इसके लिए इन्हें धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ ।

इस लघु शोध-प्रबंध लेखन की अवधि में सिद्धि का सहयोग और प्रेम तथा नूतन, शर्मिष्ठा और बहन अर्चना के उत्साहवर्द्धक पत्र प्रेरणाप्रद रहे; मैं इनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। टाईपिंग कार्य हेतु मैं जयराम को याद किए बिना नहीं रह सकता ।

मुख्य रूप से मैं अपने शोध-निर्देशक डा० पुरुषोत्तम अग्रवालजी के प्रति विनम्र आभार व्यक्त करता हूँ जिनके स्नेह एवम् कुशल निर्देशन में यह शोध संपन्न हो सका है । मैं उनके स्नेहिल सहयोग का सदैव ऋणी रहूँगा ।

सत्य प्रकाश गुप्ता

(सत्य प्रकाश गुप्ता)

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका		क से ग
प्रथम अध्याय :	यथार्थवाद और जयशंकर प्रसाद की यथार्थ चेतना	01- 052
द्वितीय अध्याय:	समकालीन जीवन और लोक के यथार्थ की अभिव्यक्ति	53- 085
तृतीय अध्याय:	यथार्थ के निकष पर प्रसादजी की कहानियाँ	86- 111
चतुर्थ अध्याय:	प्रसादजी की भाषा	112-125
उपसंहार :		126-129
परिशिष्ट :		130-132

xxx

प्रथम अध्याय

यथार्थवाद और जयशंकर प्रसाद की यथार्थ चेतना ।

यथार्थवाद और जयशंकर प्रसाद की यथार्थ चेतना :

मनुष्य के बोध में संसार का प्रकाशित या उद्घाटित सत्य यथार्थ है । यह उद्घाटन मनुष्य के प्रयास का फल है । यथार्थ और सत्य में गहरा सम्बंध है । संसार की प्रत्येक अबूझ पहेली रहस्यमय होती है पर समाज के विकास क्रम में मनुष्य की विकसित बुद्धि उसे रहस्य की कुहेलिका से निकालकर समाज के समक्ष प्रस्तुत कर देती है, तब वह यथार्थ होता है, सत्य होता है, उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुसार करता है । अत: उद्घाटित सत्य के अतिरिक्त किसी अन्य पूर्ण एवं अनन्त सत्ता की कल्पना यथार्थ नहीं है । यह सत्य इसी संसार में है, यह यथार्थ इसी वस्तुगत संसार में विद्यमान है । मनुष्य की चेतना में इस वस्तुजगत का प्रतिबिम्बन मनुष्य की इच्छा - अनिच्छा से परे होता है अर्थात संसार और उसके पदार्थ मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा से परे अपना वस्तुगत अस्तित्व रखते हैं । जिसे वह अपनी चेतना और बोध से जान सकता है । इसी तरह वस्तुगत संसार का यथार्थ भी मनुष्य की चेतना में प्रतिबिम्बित होता है " यथार्थ का लोप और उसकी खोज" शीर्षक निबन्ध में अर्न्स्टीफिशर यथार्थ की परिभाषा के संदर्भ में हेगेल और कार्ल मार्क्स को उद्धत करते हैं : हेगेल के अनुसार " अस्तित्व अपने आप में यथार्थ नहीं होता ..... यथार्थ केवल वही है जो बोधगम्य है । और मार्क्स का

कहना है - " केवल बोधगम्य वास्तविक जगत ही यथार्थ है ।" [1] हेगेल और मार्क्स दोनों दार्शनिक हैं । दोनों यथार्थ की पकड़ के लिए बोध गम्यता को अनिवार्य मानते हैं लेकिन दोनों विचारकों की दृष्टियों में फर्क है । हेगेल यथार्थ की परिभाषा में संसार की वस्तुसत्ता की ओर संकेत नहीं करते हैं जबकि मार्क्स यथार्थ की परिभाषा में वस्तुगत संसार की चर्चा करते हैं । यहाँ हेगेल भाववादी दार्शनिक विचारक हैं जो वस्तुगत संसार के अस्तित्व की मान्यता को खारिज करते हैं । हेगेलवादी भाववादियों के अनुसार संसार का बोध ईंद्रिय-संवेदनों के माध्यम से होता है, इसलिए दृश्य जगत और उसके सारे पदार्थ ईंद्रिय-संवेदनों तक ही सीमित है । इसके विपरीत मार्क्सवादी भौतिकवादी संसार को वस्तुगत मानते हैं ।

भाववादी और भौतिकवादी संसार को अलग-अलग दृष्टिकोण से देखते हैं इसलिए इनके बीच परस्पर वैचारिक संघर्ष है, जीवन जगत् को देखने के भिन्न दृष्टिकोण के कारण यथार्थ का जीवन-जगत् में रूपांकन की प्रकृति भिन्न हैं भाववादी और भौतिकवादी इस संसार को सदियों से अपने-अपने ढंग से सजाने-सँवारने में व्यस्त हैं । इनकी चर्चा अनिवार्य है क्योंकि इन दो परस्पर दृष्टिकोण के टकराव का परिणाम ही है आज का आधुनिक समाज ।

---

1. अर्न्स्टफिशर - कला की जरूरत, पृ0 215

भाववादी या आत्मवादी मनुष्य की चेतना और इंद्रिय अनुभूति को ही प्राथमिक मानता है, संसार जिसमें वे रहते हैं, क्षणभंगुर है । आत्मा की श्रेष्ठता संसार से परे अदृश्य सत्ता की शक्ति से आध्यात्मिक संबंध से नि:सृत दिव्यज्ञान से प्राप्त होती है, इस क्षणभंगुर संसार, जो दुखमय भी है, से मुक्ति ही इनके जीवन का अंतत: लक्ष्य होता है लेकिन जीवन-जगत् में क्रियाशील रहते हैं । जीवन व्यापार में आत्मा की पवित्रता जीवन की हलचलों से मैली होती है।परिणामस्वरूप मनुष्य और बाह्य संसार के विचारों में तालमेल नहीं बैठ पाता है साथ ही विचार मनुष्य की आत्मा के आत्मपरक तथ्य बन जाता है । यह आत्म-परक तथ्य आदर्श ही होता है । जार्ज लुकाच " उपन्यास के सिद्धान्त नामक पुस्तक में मनुष्य की आंतरिकता और मनुष्य की स्वायत्तता के आत्म-वादी दर्शन में अवतरण की व्याख्या करते हुए कहते हैं -" यदि हम विचारों को अप्राप्य की तरह और तथ्यात्मकता के अर्थ में अवास्तविक की तरह स्थापित करते हैं, अर्थात उन्हें आदर्शों में बदल देते हैं,तो हम व्यक्ति की तात्कालिक समस्याविमुक्त आवयविक प्रकृति को नष्ट कर देते हैं । तब व्यक्तिपन अपने आपमें एक उद्देश्य बन जाता है, क्योंकि तब वह अपने भीतर उस प्रत्येक वस्तु को पा लेता है जो उसके लिए सारवान होती है और जो उसके जीवन को स्वायत्त बनाती है।"[1]

---

1. जार्ज लुकाच - उपन्यास का सिद्धान्त, पृ0 90

लुकाच की मान्यता है कि बाह्य संसार आभ्यंतरिकता का शत्रु है । बाह्य संसार के भाग तथा उसकी पूर्णता ऐसे किसी रूप के साथ जुड़कर नहीं रह सकते जो इंद्रियगम्य प्रस्तुति का माध्यम है । उन्हीं के शब्दों में - " वाह्यसंसार की सही पूर्णता पाने में असमर्थता-वाह्य संसार की विशेषता यह होती है कि वह आदर्शों से अपरिचित तथा आभ्यंतरिकता का शत्रु होता है । यह असमर्थता या तो ऐसी होती है कि अपने लिए समग्रता का रूप नहीं पा सकती या फिर अपने तत्वों से अपने संबंध की, और उन तत्वों के पारस्परिक संबंध की संगति का रूप नहीं पा सकती: दूसरे शब्दों में, बाह्य संसार को प्रस्तुत किया ही नहीं जा सकता।"[1] क्योंकि वास्तविकता और आदर्श के बीच के विसंगतिबोध को, जिसे खाई भी कहा जा सकता है, आवश्यक रूप से वाह्य संसार की क्रियाशीलता का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है । वास्तविकता और आदर्श (जिसे होना चाहिए) केवल विषयवस्तु में भिन्न होते हैं और " यह भिन्नता स्पष्टतम रूप में सामने आती है आदर्श की शुद्ध नकारात्मकता के भीतर । लेकिन आत्मा के स्तर पर आदर्श भोगे हुए अनुभव में प्रविष्ट करता है और अपनी वस्तु में भी एक सीधी सकारात्मक भूमिका निभाता है।"[2] इस प्रकार लुकाच यह सिद्ध करते हैं कि भाववादी किसी न किसी रूप से इस संसार के अस्तित्व को चेतना में प्रतिबिम्बन के माध्यम से ही अवलोकन कर पाते हैं

---

1. जार्ज लुकाच- उपन्यास का सिद्धान्त, पृ0 91
2. जार्ज लुकाच- उपन्यास का सिद्धान्त, पृ0 91

क्योंकि आदर्श और वास्तविकता के बीच की खाई किसी न किसी रूप में बाह्य संसार की सक्रियता का प्रतिनिधित्व करती है।केवल भोगा हुआ आदर्श उसके अनुभव में प्रवेश करता है । आत्मवादी जीवन को मनोदशा या मनन मंथन का उद्देश्य बना लेता है । ऐसी स्थिति में प्रत्येक चीज आभ्यंतरिकता से निश्चित होती हैं और आभ्यंतरिकता आत्मा के स्तर पर अदृश्य शक्ति से बँधी होती है । यह अदृश्य शक्ति शाश्वत सत्ता है, इसलिए जीवन-जगत् में इनके आभ्यंतरिकता से निःसृत यथार्थ भी शाश्वत होता है अर्थात आदर्श और यथार्थ दोनों एक हो जाते हैं । आत्मवादी कभी नये आदर्श अस्तित्व के प्रति सचेत नहीं होते । आदर्श केवल उसी का आत्मपरक प्रतिबिम्ब होता है जो पहले से अस्तित्व में है । इस प्रकार आत्मवादी या भाववादी जीवन-जगत् को इंद्रियगम्य अनुभूति से अनुभव करता है ।

इसके विपरीत भौतिकवादी या वस्तुवादी यह मान कर चलते हैं " बाह्य-जगत् का अस्तित्व हमारी इच्छा-अनिच्छा से परे एक स्वतंत्र वस्तुगत अस्तित्व है, कि ज्ञेय पदार्थों की सत्ता ज्ञाता से स्वतंत्र है।"[1] इसकी दृष्टि में संसार मिथ्या नहीं, वास्तविक है । इससे मुक्ति नहीं बल्कि इसे और भी सुन्दर बनाने की योजना इनमें होती है । इनकी दृष्टि

---

1. शिवकुमार मिश्र - दर्शन, साहित्य और समाज, पृ0 25

में, संसार के प्रत्येक वस्तु गतिशील है इसलिए संसार भी गतिशील,परिवर्तन-शील और विकासमय है इसीलिए संसार की वास्तविकता अर्थात यथार्थ भी परिवर्तनशील है । यथार्थ समाज के विकास क्रम में बदलता है । भौतिकवादी विचारकों की यह मौलिक धारणा है कि पुरातन से नूतन जन्म लेता है । ब्रतोल्त ब्रेख्त " जार्ज लुकाच के विरोध में " नामक निबन्ध में कहते हैं "कुछ नहीं से कुछ भी पैदा नहीं होता, पुराने से नया जन्मता है और इसीलिए वह नया है । "[1]

संसार के प्रति भाववादी और भौतिकवादी विचारकों के भिन्न दृष्टिकोण से वैचारिक संघर्ष आरम्भ हो जाता है । अत: दोनों के लिए सच का उद्‌घाटन दो भिन्न दृष्टिकोणों से होता है । मानवजाति के इतिहास में मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता ने भाववादी और वस्तुवादी दोनों प्रकार के मनुष्यों को समानरूप से प्रभावित किया है और उनसे मनुष्यों ने अपने दृष्टिकोणों को पीछे छोड़कर सामना किया है । इस सामना या जुझने की प्रक्रिया में भौतिकवादी मनुष्य की जीत हुई है जब भाववादियों या आत्म-वादियों से प्रश्न पूछा जाता है तो वे फिर अपने विशिष्ट ज्ञान-मीमांसा पर पहुँच जाते हैं । लुकाच इस समस्या की तह में जाते हैं, अपने एक लेख

---

1. डा. नामवर सिंह - प.आलोचना,ज.मा. 75, पृ0 17

"कला और वस्तुपरक सत्य" में कहते हैं -" बुर्ज्वा मानस के लिए वस्तुपरकता तथा चेतना-निरपेक्ष यथार्थ के चेतना में प्रतिबिम्ब के सभी सिद्धांत एक भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की कल्पना असम्भव है । व्यवहार में अवश्य ही बुर्ज्वा विज्ञान और कला में यथार्थ के परिशुद्ध प्रतिबिम्ब के अगणित उदाहरण मिलते हैं और प्रश्न के सही सैद्धांतिक निरूपण और समाधान के अनेक प्रयत्न हुए हैं । किन्तु जैसे ही इस प्रश्न को ज्ञान-मीमांसा का प्रश्न बनाया जाता है, बुर्ज्वा विचारक या तो यांत्रिक भौतिकवाद के फेर में पड़ जाते हैं या दार्शनिक प्रत्ययवाद में डूब जाते हैं ।"[1] अत: सम्पूर्ण ज्ञान वाला जगत के अव्यवहित प्रतिबिम्ब पर निर्भर है । बाह्य संसार सम्पूर्ण ज्ञान के प्रारम्भ बिन्दु हैं, पर वे केवल प्रारंभिक बिन्दु होते हैं, उस बिन्दु से ज्ञान नि:सृत होते रहते हैं । आरम्भ में ही कोई घटना या वस्तु से वास्तविकता या यथार्थ का उद्‌घाटन संभव नहीं हो सकता: वास्तविकता वस्तु के विकास-प्रक्रिया के मध्य या किसी अवस्था में दृष्टिगत हो सकती है। लुकाच " कला और वस्तुपरक सत्य" नामक लेख में लेनिन को उद्धत करते हैं, लेनिन के अनुसार " सत्य प्रारम्भ में नहीं, बल्कि अंत में और विशेषकर प्रक्रिया के अंदर ही उपलब्ध होगा।"[2]

भौतिकवादी तो मूर्त या अमूर्त के बोध में भी सत्य का उद्‌घाटन

---

1. डा. नामवर सिंह - आलोचना, पृ0 28
2. डा. नामवर सिंह - आलोचना, पृ0 29

भौतिकवादी तो मूर्त या अमूर्त के बोध में भी सत्य का उद्घाटन वस्तुवादी दृष्टिकोण से ही करते हैं । नियम, अवधारणा, विचार आदि मूर्त से नि:सृत अमूर्त हैं । अमूर्त का अस्तित्व मूर्त के बिना संभव नहीं है । अपने लेख " कला और वस्तुपरक सत्य " में लुकाच लेनिन को उद्धत करते हुए अमूर्तन को मूर्त सत्ता से जोड़ते हैं, लेनिन के अनुसार -" जिस प्रकार मूल्य के सीधे- सादे अवस्थापन में, वस्तुओं के विनियम की मात्र एक क्रिया में सूक्ष्मरूप में, गर्भरूप में पूँजीवाद के सारे प्रधान अन्तर्विरोध निहित होते हैं, उसी तरह सरलतम सामान्यीकरण अवधारणाओं (निर्णयों, निष्कर्षों) के प्रारम्भिक और सरलतम निरूपणों में मनुष्य का सदा विस्तीर्ण हो रहे वस्तुपरक ब्रह्मंड का बोध निहित है।"[1]

भौतिकवादी वस्तुजगत् में द्वन्द्वात्मक स्थितियों का अध्ययन करता है । द्वन्द्व में परस्पर विरोधी शक्तियाँ कार्यरत होती हैं, जिससे वस्तुजगत में परिवर्तन और विकास होता है, इसलिए यथार्थ की वस्तुगत अवधारणा में द्वन्द्वात्मकता सन्निहित है जिसमें वस्तु की प्रधानता है यद्यपि भाववादी भी द्वन्द्वात्मकता को कम महत्व नहीं देते लेकिन उनके यहाँ मानसिक स्थितियाँ या इंद्रिय अनुभूति ही द्वन्द्वात्मकता का आधार होती है । वस्तुत: भाववादी विचारकों की दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व का बोधगम्य भाग इंद्रियानुभूति

---

1. डा. नामवर सिंह - आलोचना, पृ0 29

से नि:सृत विचारपिंड है और तब यथार्थ की सारी समझ भौतिकवादी समझ के प्रतिकूल हो जाती है । स्वाभाविक रूप से जीवन-जगत को देखने के ये भिन्न रवैया ही विचारों के संघर्ष का इतिहास बनाता है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ये भिन्न-भिन्न रवैया या दृष्टिकोण कार्य करते हैं । इसलिए दृष्टिकोण मनुष्य या समाज के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, दो भिन्न दृष्टिकोणों के मौजूद होने का मतलब यह होता है कि समाज में मनुष्य उन दृष्टिकोणों से प्रभावित हैं । पक्ष और विपक्ष की हालत दृष्टिकोण के संदर्भ में उत्पन्न हो उठते हैं । वस्तुत: पक्ष और विपक्ष पूर्वग्रह के कारण ही होता है । संसार में सदियों से भाववादियों का वर्चस्व रहा है अत: जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अदृश्य संसार से नि:सृत आध्यात्मिक चेतना से अनुस्यूत रहा है । सभ्यता के विकास क्रम में जीवन की आवश्यकताओं और मनुष्य की अभिरूचियों में परिवर्तन के कारण जीवन का यथार्थ भी नये ढंग से प्रस्तुत होता रहा है, इस यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में वस्तु जगत् और आत्मजगत् का अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष निहित है।

जब साहित्य और कला में यथार्थ-बोध का प्रश्न उठता है तो बाह्य संसार की सारी लड़ाई साहित्य और कला में भी उतर आती है। साहित्य और कला में चित्रण की मूल वस्तु बाह्य संसार और उसके विभिन्न रूप ही हैं जो निरंतर सक्रिय और परिवर्तनशील होते हैं । साहित्य में यथार्थ का चित्रण सहजता और अन्तर्निहित प्रवृत्ति के रूप में सदैव विद्यमान

रहा है । शिवकुमार मिश्र बोरिस सुखोव के हवाले से इस बात की पुष्टि करते हैं, उनके अनुसार " कला की रचना प्रक्रिया मनुष्य के बौद्धिक और मानसिक व्यापार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है । इस रचना प्रक्रिया का सारभूत तत्व है - बिम्बों अथवा रूपों में ही बाह्य जगत और उसके पदार्थों का ग्रहण । यह वाह्य जगत प्रत्यक्षीकरण के क्रम में स्वाभावत: अपने रूपों और बिम्बों को हमारे मन पर अंकित करता रहता है।यहाँ तक कि कलासर्जक जब ऐसी किसी वस्तु को आवष्कृत करना चाहता है, जिसे कि वह संभावना की परिधि से बाहर समझता है, सही अर्थों में, वह और कुछ नहीं करता, उसी समग्र के अंगीभूत अंशों को रूप में व्यवस्थित और पुर्नप्रस्तुत करता है, जिसे हम यथार्थ कहते हैं । " [1] कला सृजन की एक सहज और अंतर्निहित प्रवृत्ति के रूप में यथार्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण सामाजिक विकास के प्रत्येक काल में देखा जा सकता है । प्राचीनकाल के मंदिर की दीवारों में गुदे चित्रों तक में मनुष्य का यथार्थ के प्रति सहज आकर्षण दृष्टगत है । साहित्य तथा कला-सृजन के एक सुसंगत दृष्टिकोण के रूप में अथवा एक रचनात्मक पद्धति के रूप में, अवश्य ही यथार्थवाद का उद्भव मनुष्य के बौद्धिक विकास के एक निश्चित काल में हुआ जब मनुष्य ने संजीदगी से अनुभव करना आरम्भ किया कि उसके लिए सामाजिक विकास की प्रकृति तथा दिशाओं का ज्ञान आवश्यक है । इसी विकास क्रम में युग के अंध विश्वास से मुक्ति और इस प्रक्रिया में पूर्वभ्रम के समाप्त होने

---

1. शिव कुमार मिश्र- दर्शन, साहित्य और समाज, पृ0 24-25

की प्रक्रिया में प्राप्त सत्य को मनुष्य ने संघर्ष के माध्यम से समाज का सत्य बनाने का प्रयास किया है । अत: कालखंड का ज्ञान कुछ मनुष्यों का ज्ञान होता है जिसके माध्यम से बहुसंख्यक मनुष्य को शासित करता है, अर्थात शासित व्यक्ति उस ज्ञान के विरोध में संघर्ष कर सकता है यदि वह विशेष ज्ञान आचारसंहिता उसे शोषित, परेशान करती हो । उस प्रक्रिया में ही(जो द्वन्द्व की प्रक्रिया होती है) शासक के नग्न यथार्थ से शासित परिचित होता है और संघर्ष के माध्यम से एक नया यथार्थ (समाज भी हो सकता है) का सृजन करता है । निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है सामाजिक-विकास-क्रम में अपने परिवेश तथा स्वत: अपने को नियमित तथा गतिशील करने वाले मूल कारणों तथा नियमों की खोज और उनके ज्ञान के प्रति मनुष्य की सजगता हमेशा बनी रही है ।

18वीं 19वीं और 20वीं शताब्दियों में साहित्य और कला में यथार्थ का चित्रण शैलियों, पद्धतियों और दृष्टिकोणों के रूप में आया है विशेषकर 19वीं और 20वीं शताब्दियों में साहित्य और कला में यथार्थ का चित्रण निश्चित दृष्टिकोण के माध्यम से हुआ है । साहित्य का कला में बाह्य संसार का यथार्थ का प्रस्तुतीकरण उसी तरह से नहीं होता है जिस तरह से वह बाह्य संसार में है उस यथार्थ की प्रस्तुतीकरण में रचनाकार की रचनात्मकता या रचना पद्धति अपना अवश्य योग देती है, जिससे बाह्य संसार के यथार्थ से भिन्न और अपरिचित सा दृष्टिगत होता है । कला

या साहित्य में यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में यथार्थवाद का व्यवहार दोनों तरह से हुआ है, पद्धति और दृष्टिकोण दोनों रूप में । साहित्य में जब बाह्य संसार का यथार्थ उतरता है तो साहित्यकार अपनी यथार्थवादी दृष्टिकोण से यथार्थ का कलात्मक चित्रण करता है, वस्तुत: यह यथार्थवादी दृष्टिकोण रचनाकार का सौन्दर्यबोधी दृष्टिकोण है । रचनाकारकी विचार-धारा या दृष्टिकोण से भिन्न यह सौन्दर्यबोधी दृष्टिकोण है । स्पष्टत: यथार्थवाद रचना में वस्तुगत संसार के यथार्थ का कलात्मक चित्रण की एक शैली है और साथ ही उसमें बाह्य संसार के सत्यों के अनुसार जीवन का आभ्यांतरीकरण भी है । यह बाह्य संसार के सत्यों या यथार्थों के अनुसार जीवन के आभ्यांतिकरण की प्रक्रिया में एक दृष्टिकोण भी है । मुक्तिबोध " रचनाकार का मानवतावाद" नामक निबंध में कहते हैं -" साहित्य में- चूंकि आभ्यांतरीकृत जीवन और जीवन-दृष्टि प्रकट होती है, इसलिए जब तक कि रचनाकार बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार करके उनके प्राप्त सत्यों के अनुसार जीवन का आभ्यांतरीकरण नहीं करता, तब तक वह नवीन दृष्टि से, ... आभ्यंतरित जीवन को काव्य में कलात्मक रूप से प्रकट नहीं कर सकता ।" [1] इस आभ्यांतरिकता की अनुभूति, भावना, संवेदना बाह्य संसार के यथार्थ के अनुकूल होते हैं, पर कलात्मक होते हैं । इसी बात को शिव कुमार मिश्र अपनी पुस्तक " मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन" में इस प्रकार कहते हैं -" बाह्य यथार्थ रचनाकार के लिए कच्चे माल की तरह

---

1. डा. नेमीचन्द्र जैन- मुक्तिबोध रचनावली, पृ 341

होता है जिसे वह अपनी कृति में कलात्मक एवं निखरा हुआ रूप देता है और इसके लिए उसे वस्तुगत यथार्थ की सम्पूर्ण राशि के बीच अपने जागृत विवेक, भावबोध एवं इंद्रिय संवेदनों के बल पर ऐसा चुनाव करना पड़ता है जो एक स्तर पर, उस मनुष्य के साथ प्रस्तुत करे जो राशि-राशि जीवन उसके चारों ओर बिखरा है, उससे उसे परिचित कराये, साथ ही उसे वस्तुगत यथार्थ की उन संभावनाओं का भी अहसास दे, जो परिवर्तन के एक जटिल और अन्तर्विरोधी क्रम से गुजरती हुई एक ऐसे साहित्य एवं कला में चित्रित वस्तुगत यथार्थ इसी कारण जीवन के प्रकृत यथार्थ की तुलना में अधिक ग्राह्य होता है कि उसमें प्रकृत यथार्थ की अपेक्षा एक सचेतन दृष्टि का योग होता है ।"[1] शिव कुमार मिश्र रचना में बाह्य जगत् का व्यक्त यथार्थ और बाह् जगत् का वह विशिष्ट यथार्थ जो अभिव्यक्त हुआ है, में अंतर करते हुए यथार्थ के अन्दर छिपी सारी संभावनाओं की ओर भी संकेत करते हैं । यह संभावना मानव-जाति के विकास की ओर उत्तरोत्तर बढ़ने की संभावना है साथ ही एक सचेतन दृष्टि का योग भी रचना में व्यक्त यथार्थ के साथ होता है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रचना में व्यक्त यथार्थ जीवन जगत् के उस अंश का कलात्मक यथार्थ है और उसकी प्रस्तुतीकरण में यथार्थवाद रचनात्मक दृष्टिकोण और सामाजिक या सचेतन दृष्टिकोण के साथ रचना में उद्घाटन करता है । प्रत्येक युग में सत्य की खोज ही साहित्य में यथार्थवाद है ।

---

1. शिव कुमार मिश्र- मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, पृ0 368

कला व साहित्य में बाह्य संसार का यथार्थ कलात्मक रूप प्राप्त करता है, वह अपने परिवेश से कलाकार या रचनाकार के ईंद्रिय अनुभूति, कल्पना, भाव से संयुक्त होकर साहित्य में पुनर्रचित होता है । कला में चित्रित यथार्थ, आसपास के उस यथार्थ से भिन्न स्वरूप को प्राप्त करता है, जिससे भ्रम उत्पन्न होता है । यह भ्रम ही वस्तुत: साहित्य या कला का कलात्मक आकर्षण है । " कला जीवन की स्थानापन्न" है यह आंशिक रूप से ही सत्य है । कला मनुष्य और बाह्य संसार के बीच के एक सघन संबंध को प्रस्तुत करती है । साहित्य या कला के कार्य को किसी फार्मूला में व्यक्त नहीं किया जा सकता है । साहित्य जीवन के बहुत आवश्यक मांग को पूरा करता है । साहित्य समाज को बदलने का कार्य भी करता है । अत: मनुष्य और साहित्य का संबन्ध स्थानापन्न का नहीं है । मनुष्य को साहित्य की आवश्यकता है क्योंकि मनुष्य स्वयं से बढ़कर कुछ होना चाहता है । वह एक पूरा मनुष्य के अस्तित्व को प्राप्त करना चाहता है । मनुष्य अपने आसपास के जीवन की विषमता, कुरूपता से मुक्ति ही नहीं चाहता बल्कि एक ऐसी दुनिया की ओर बढ़ना चाहता है, जो अधिक बोधगम्य हो, जो अधिक न्यायसंगत दुनिया हो। यदि मनुष्य में उत्तरोत्तर विकास की इच्छा तथा अमानवीयता से मुक्ति का अभाव होता तो वह मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं होना चाहता, लेकिन ऐसा नहीं है । इसके विपरीत वह अनुभव करता है कि पूर्णता प्राप्त करने के लिए दूसरे के उस अनुभव को अपना बना ले, जो संभाव्य रूप में उसके अपने अनुभव

हो सकते थे। मनुष्य जिस इच्छा या अनुभव की संभावना करता है उसमें सम्पूर्ण मनुष्यता की इच्छा और अनुभव निहित होती हैं । इसी अर्थ में, साहित्य या कला मनुष्य की सारी इच्छा, कल्पना, भावना आदि संभावनाओं को स्वयं में समेट लेता है । साहित्य या कला में मनुष्य का दूसरों के साथ जुड़ने की तथा दूसरों के अनुभवों एवं विचारों में साझेदार होने की अपार क्षमता का प्रतिम्बिबन होता है । साहित्य का सृजन रचनाकार करता है, अत: रचना-प्रक्रिया में बाह्य-जगत् के यथार्थ और रचनाकार के बीच तनाव और अन्तर्विरोध पैदा होते हैं । साहित्य में तनाव और द्वन्द्व यथार्थ के साथ अनुस्यूत होते हैं जो कलाकृति को रोचक और आकर्षक बनाता है जिसमें पाठक को आनन्द की अनुभूति मिलती है, इसी प्रक्रिया में वह जगत के वैषम्य "यथार्थ" को देख पाता है और इस यथार्थ के अन्दर छिपे उस द्वन्द्व को भी महसूस किया जाता है जिसमें इस वैषम्य-स्थिति से मुक्ति की संभावना को व्यक्त करता है । इसी बात को " कला की जरूरत " में अर्न्स्ट फिशर कहते हैं -" कला में जीवन के बंधन थोड़ी देर के लिए तोड़कर फेंक दिए जाते हैं, क्योंकि कला यथार्थ की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार से "विमोहित" करती हैं।"[1] आगे फिशर अपनी बात को बर्तोल्ड ब्रेष्ट के कथन से पुष्ट करते हैं । ब्रेष्ट के अनुसार -" हमारे रंगमंच के लिए निहायत जरूरी है कि वह समझ से पैदा होने वाले रोमांच को प्रोत्साहित करे और लोगों को यथार्थ में परिवर्तन करने से प्राप्त होने वाले आनन्द का प्रशिक्षण दे । हमारे प्रेक्षक सिर्फ यही न सुनते रहें कि प्रोमेथियस को कैसे मुक्त किया गया, बल्कि वे स्वयं को भी

---

1. अर्न्स्ट फिशर- कला की जरूरत, पृ0 12

उसे मुक्त करने के आनन्द का प्रशिक्षण दे । हमारे रंगमंच से उन्हें आविष्कारक तथा खोजकर्ता को अनुभव होने वाले तमाम संतोष और सुख के अनुभव का प्रशिक्षण मिलना चाहिए : मुक्तिदाता द्वारा अनुभव की जानेवाली तमाम विजयों के अनुभव का प्रशिक्षण मिलना चाहिए ।"[1]

इस प्रकार साहित्य या कला एक वशीभूत यथार्थ के रूप में सामने आता है । जो केवल अपनी अंतर्वस्तु से पाठक को बाँधता ही नहीं अपितु प्रेरणा और प्रोत्साहित भी करता है । वर्ग विभाजित समाज में अंतव्याप्त शोषण, गरीबी तबाही आदि कुरूपता से मुक्ति के अतिरिक्त व्यक्ति या पाठक के मस्तिष्क या अनुभव में एक सुखद, कल्याणकारी वर्गविहीन समाज के निर्माण की संभावना को उद्‌बोधित करने की अपार क्षमता साहित्य में आये यथार्थ में अन्तर्निहित होते हैं । साहित्य में यथार्थ-चित्रण बाह्य-संसार का चित्रण मात्र नहीं हैं, बल्कि उसमें जीवन जगत् के परिवर्तन और प्रभावित करने वाली असंख्य संभावनाएं निहित होती हैं, जिसमें द्वन्द्वात्मकता होती है । अतः साहित्य में यथार्थ एक भ्रम सा एक जादू सा प्रतीत होता है । भ्रम यथार्थ को सच्ची कला में बदल देता है । साहित्य में भ्रम की आवश्यकता पर जोर देते हुए लुकाच कहते हैं - कलाकृति के प्रकट-तथा परिसीमित संसार और उसकी यथार्थ से अतद्‌नुरूपता यथार्थ के कलात्मक प्रतिबिम्ब के विशेष स्वभाव पर आधारित है। क्योंकि यह अतद्‌नुरूपता भ्रम मात्र है । यद्यपि यह एक आवश्यक भ्रम है ।"[2] प्रेमचंद भी साहित्य में भ्रम को आवश्यक मानते हैं, उनके अनुसार-" कला दीखती

---

2. डा. नामवर सिंह- आलोचना, पृ0 34
1. अर्न्स्ट फिशर- कला की जरूरत, पृ0 12

तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं । उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो ।• ••• कला का रहस्य भ्रांतिहै जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो ।" [1] डा• नामवर सिंह साहित्य में इस भ्रम को छाया कहते हैं जिसमें जीवन-जगत् का यथार्थ निहित होता है, उनके अनुसार-" साहित्य को समाज की छाया कहना आसान है लेकिन उस छाया को समाज में बदलकर देखना सबके लिए आसान नहीं है । साहित्य में समाज की छाया कभी-कभी इतनी उल्टी पड़ती है कि शीर्षासन करने वालों को एकदम सीधी दिखायी पड़ती है ••••••• जो स्वयं विचार पेश करने का अनुभव नहीं करते बल्कि विचारों से पैदा होते हैं, वे मध्ययुगीन संतो द्वारा पैदा किए गए भगवान से मनुष्य को नहीं अलगा सकते ।" [2] डा• नामवर सिंह भ्रम को रचनाकार के दृष्टिकोण का परिणाम मानते हैं, रचनाकार की दृष्टि के कारण है। यह दृष्टि रचनाकार की कलात्मक प्रतिभा के माध्यम से साहित्य में प्रवेश करती है ।

साहित्य में भ्रम या जादू की प्रतीती का अभिप्राय यह नहीं होना चाहिए कि भ्रम ही साहित्य है । वास्तव में, मनुष्य भ्रम से मुक्त होता हुआ आगे बढ़ता है, खोजता है और वास्तविकता की तह में जाता है । डा•नामवर सिंह के अनुसार - " मनुष्य का इतिहास भ्रमों का इतिहा नहीं बल्कि भ्रमों के विरूद्ध वास्तविकता की विजय का इतिहास है ।" अर्न्स्ट फिशर

1• प्रेमचंद - साहित्य और उद्देश्य, पृ0 48
2• डा• नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ0 63

साहित्य या कला में भ्रम को जादू कहते हैं उनके अनुसार यह भ्रम रचनाकार की कल्पना से पैदा होता है, जो कला या साहित्य के आकर्षण के लिए आवश्यक है, उनके अनुसार -" कला इसलिए जरूरी है कि आदमी दुनिया को समझ सके और बदल सके । लेकिन कला इसलिए भी जरूरी है कि उसमें जादू ‖ आकर्षण ‖ अंतर्निहित होता है । " [1]

साहित्य में बाह्य यथार्थ का कलात्मक चित्रण कल्पना के माध्यम से होता है । यह कल्पना जीवन-जगत् के यथार्थ को रचना में उतारती है । तो दोनों में गुणात्मक अन्तर होता है । अत: कल्पना रचना में भ्रम या जादू उत्पन्न करती है । वस्तुत: कल्पना भी वस्तुगत होती है, बिना बाह्य संसार के अस्तित्व के कल्पना संभव नहीं है । ज्ञान में कल्पना की भूमिका होती है । रचनाकार के विचार, ज्ञान वस्तुगत् होते हैं । कल्पना उन्हें अनुसंधान या रचना, की ओर प्रवृत्त करती है । बुद्धि या ज्ञान भी कल्पना को सुशिक्षित करते हैं। मुक्तिबोध ज्ञान, भावना और कल्पना को जीवन- ज्ञान की उपलब्धि में महत्वपूर्ण बताते हैं, उनके अनुसार " जीवन ज्ञान की उपलब्धि में तीनों वृतियों का सहयोग होता है और ये तीनों वृत्तियां एक दूसरे से प्रभावित परिष्कृत और शिक्षित होती है । " [2] कल्पना ज्ञान और भावना के सहयोग से रचना में जीवन की पुनर्रचना करती है । कभी-कभी ज्ञान में कल्पना की अति-शयता से रचना में यथार्थ का मूर्तन नहीं हो पाता, यद्यपि मुक्तिबोध के अनुसार

---

1. डा. नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ0 64
2. नेमीचंद्र जैन - मुक्तिबोध रचनावली, पृ0 244

" कल्पना का कार्य है मूर्त विधान करना । अन्तर्निहित संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित होकर ही कल्पना अपना कार्य करती है।" [1] लेकिन कभी-कभी संवेदनात्मक उद्देश्य कल्पना की सघनता में छुप जाता है, यथार्थ और यथार्थ का उद्देश्य अमूर्त हो जाता है । मुक्तिबोध के इस कथन से भी बात स्पष्ट हो जाती है कि भ्रम या जादू रचना में कल्पना के कारण है उनके अनुसार -" कल्पना पुनर्रचित जीवन का स्वरूप-स्थापन करती है और उसे वास्तविक जीवन की कोटि से हटा देती है । किन्तु साथ ही, यह पुनर्रचित जीवन वास्तविक जिये और भोगे गये जीवन से सारभूत एकता रखता है।" [2] इस प्रकार, कल्पना रचना की मूल विधायिनी शक्ति है जो बाह्य संसार के यथार्थ को रचना में बिल्कुल भिन्न पर कलात्मक रूप प्रदान करती है जिसमें भ्रम, जादू का एक दृश्य जगत् दृष्टिगोचर होता है ।

जब साहित्य में यथार्थ की स्थिति मूर्त और अमूर्त हो तथा साहित्य में बाह्य संसार का यथार्थ एक भ्र या जादू सा प्रतीत होता हो, तब यथार्थ की पहचान में कठिनाई उत्पन्न होती है । जब यथार्थ की पहचान, यथार्थवाद की परिभाषा, उसके मूलभूत अवधारणाओं में की जाती है तो यथार्थ की प्रकृति या यथार्थबोध की सीमा भी तय हो जाती है । समाज - विकास के क्रम में यथार्थ की पहचान रचना-प्रक्रिया में यथार्थ की सीमा को व्यापक कर देती है । वस्तुत:

---

1. नेमीचंद्र जैन - मुक्तिबोध रचनावली, पृ0 244
2. वही वही पृ0245

रचना में वास्तविकता या यथार्थ का भ्रम यथार्थ की सीमा का विस्तार ही है । सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्बन एक ही रचनाकार अपनी अलग-अलग रचनाओं में भिन्न तरह से कर सकता है । रचना के ढाँचा, रूप और प्रकृति एक न होकर एक दूसरे से भिन्न हैं पर वे रचना के अनिवार्य अंग हैं । यथार्थ का प्रतिबिम्बन इनमें ही अनुस्यूत होता है । रचना में अनुस्यूत कलात्मक यथार्थ, जो बाह्य संसार का बिम्ब है, सम्भव है कार्य और कारण को अलग-अलग देखने से रचना में दृष्टिगत ही न हो, ऐसी स्थिति में रचना की अंतर्वस्तु में चित्रित सारे घटना-क्रम को उसके कार्य और कारण के संबन्धों की अन्तःक्रिया में देखना चाहिए । इस बात को अच्छी तरह से हावर्ड फास्ट इस प्रकार कहते हैं -" कुछ आदिम लोगों में यह विश्वास प्रचलित है कि वृक्षों के हिलने से हवा चलती है । यह कार्य कारण सम्बंध की सरल और स्पष्ट सी प्रक्रिया है । पेड़ हिलते हैं, हवा चलती है । लेकिन यहाँ गलती परिणाम को कारण मानने में है और इस भ्रम से हवा या पेड़ों की वास्तविक प्रकृति को समझने में बाधा पैदा होती है । इसलिए केवल देखने के तथ्य से यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि इससे माहौल की प्रकृति भी दिखाई पड़ रही है । "[1] साहित्य सभ्यता- संस्कृति को भी अपनी रचना-प्रक्रिया में अनुस्यूत करता है । धर्म और जाति संस्कृति का अद्भुत घटक है जो सदियों से मानव-जाति की विकास-प्रक्रिया को प्रभावित करते रहे हैं । आज भी ये उतने ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली हैं । संस्कृति के इन रूपों

1.हावर्ड फास्ट - साहित्य और यथार्थ, पृ0 14-15

से और इनकी समस्याओं से रचनाकार टकराता है।उन समस्याओं के होने के कारणों की जाँच-पड़ताल करता है, समस्या के समाधान की खोज करता है और अपनी कलात्मक प्रतिभा से रचना में उन्हें उतारता है अत: संस्कृति साहित्य में यथार्थ बनकर उतरती है । फास्ट कहते हैं -" यथार्थ का चाहे जितना भी बोध क्यों न हो वह संस्कृति के लिए एक आधार अवश्य प्रस्तुत करता है । यह संस्कृति स्वयं में एक ऐसा यथार्थ बन जाती है जिससे एक लेखक को जूझना चाहिए ।"[1] इस प्रकार सामाजिक-विकास-प्रक्रिया में संस्कृति को अनदेखा करके यथार्थ की पहचान नहीं कर सकते । निर्मल वर्मा अर्जित और अनुभूत सत्यों में यथार्थ की खोज करते हैं, उनके अनुसार -" एक कलाकृति जो सत्य हमें संप्रेषित करती है वह अपने में चाहे कितना अद्वितीय और अनूठा क्यों ने हो- उसका मूल्य अंतत: उन रिश्तों में उद्घाटित होता है जो वह अब तक हमारे अर्जित किए अनुभूत सत्यों के साथ जोड़ पाती हैं ।"[2] यह अनुभूत या अर्जित सत्य सार्थक और मूल्यवान संस्कृति है जो परम्परा-प्रदत्त है और परम्परा-प्रदत्त सर्वग्राह्य संस्कृति का वहन करता है और अपने संसार को मांजता है, परिणामस्वरूप यह संस्कृति पोषित-संस्कार व्यक्ति का सत्य होता है और इस सत्य को जीवन की सक्रियता में खोजता है। युग-विशेष के बीत जाने पर परम्परा के माध्यम से जीवंत संस्कृतियाँ युग-युग तक जन-जीवन में व्याप्त रहती हैं और इसीलिए संस्कृति अनुभूत या अर्जित सत्य के रूप में मनुष्य की स्मृतियों में मौजूद हैं और इसीलिए संस्कृति यथार्थ है ।रचनाकार

---

1. हावर्ड फास्ट - इतिहास और यथार्थ, पृ0 15
2. अशोक वाजपेयी- पूर्वग्रह , पृ0 42

TH- 4625
O,152,3,M69!.9
152 N7

की स्मृति में अर्जित सत्य रचनाकार के यथार्थ में प्रवेश कर यथार्थ को जटिल और दुरूह बना देता है लेकिन संस्कृति के इस रूप से परिचित पाठक या मनुष्य ऐसे यथार्थ को परख सकता है और तब यथार्थ की कई परते खुलने लगती है, एक दूसरे को निषेध न कर जीवन के व्यापक सत्य का उद्‌घाटन होता है ।

रचना या सृजन-प्रक्रिया के समय चयन-प्रक्रिया एक अनिवार्य रचनात्मक-प्रक्रिया है जो रचना को आकर्षक, कलात्मक यथार्थपरक बनाती है । रचनाकार अपने आसपास के समाज की स्थितियों के अनुकूल वस्तुओं का चयन करता है । चयन-प्रक्रिया सर्जनात्मक प्रक्रिया होती है । रचनाकार चुनाव और सृजन द्वारा रचना में यथार्थ को संपुष्ट करता है । रचनाकार के लिए रचना के निर्माण के पूर्व बहुत बड़ी समस्या बाह्य-संसार के यथार्थ के चुनाव की होती है क्योंकि पाठक या व्यक्ति उससे गुजरता है तो उसे अपने समाज के अनुकूल परिस्थिति से उसका साक्षात्कार तो अवश्य ही, साथ ही उसे अपने अनुभव में रचा-बसा सुन्दर संसार की कल्पना का चित्रण मिले और उसके इच्छित संसार को प्राप्त करने के सम्पूर्ण संघर्ष का उसमें दिक्‌दर्शन भी हो । हावर्ड फास्ट इस तथ्य को ब्रांड हाइलॉक को उद्धृत करके पुष्ट करते हैं, ह्वाइलॉक के अनुसार " एक कथाकार की कला का सबसे बड़ा राज इसमें निहित है कि पाठक उसमें भागीदार है । उसकी क्षमता इसमें है कि वह अपने द्वारा निर्मित नाटकीय स्थिति में पाठक को खड़ा कर दे ।" [1] ह्वाइलॉक के इस कथन

---

1. हावर्ड फास्ट - साहित्य और यथार्थ, पृ0 17

से यह स्पष्ट होता है कि पाठक की मानसिकता रचना की अध्ययन-प्रक्रिया में बदल जाती है और रचना में निहित यथार्थ में जो संभाव्य विधा होता है, वह पाठक को समाज में व्यापक राजनीतिक- सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रिया में भाग लेने के लिए प्रेरित करता है । निर्मल वर्मा "कलाकृति" और आलोचना" नाम लेख में इस बात की पुष्टि करते हैं, उनके अनुसार-" एक महान कलाकृति, मनुष्य को नहीं बदलती, वह सिर्फ उस रिश्ते को बदलती है जो अब तक मनुष्य अपने संसार से बनाता आया था, लेकिन एक बार रिश्ता बदल जाने के बाद न तो वह मनुष्य ही वैसा मनुष्य रह पाता है जैसा वह कलाकृति के सम्पर्क में आने से पहले था, न उसका संसार वैसा संसार रह जाता है जो उसे कलाकृति के अनुभव के बाद दिखायी देता है।" [1] साहित्य जब इस वास्तविकता के साथ रहती है तब कला मूलत: आत्मा को झकझोरती है और पाठक को समाज के व्यापक हिस्से के सच के साथ ला खड़ा करती है, महान रचनाकार अपनी रचना को जीवन के सच के साथ रखने का प्रयास करता है । रचना के रचाव-गठन की प्रक्रिया में सत्य का रचाव भी होता है इस चयन-प्रक्रिया में रचनाकार को ईमानदार होना आवश्यक है । ईमानदारी और जीवन के प्रति वास्तविक आसक्ति रचना प्रक्रिया में यथार्थ के चयन और चित्रण में अत्यधिक मदद मिलती है । " यथार्थ के लोप और इसकी खोज" नामक लेख में अर्न्स्ट फिशर कहते है- " ईमानदारी के साथ किए गए यथार्थ

---

1. अशोक बाजपेयी- पूर्वग्रह, पृ0 42

चित्रण का प्रत्येक प्रयास हम सबको आगे बढ़ने में मदद देता है । यह बात नहीं कि सिर्फ ईमानदारी से ही हमारे युग के जटिल यथार्थ को प्रस्तुत किया जा सकता है -- उससे केवल आंशिक या खंडित रूप में ही यथार्थ-चित्रण संभव होगा लेकिन ईमानदारी के बिना कुछ भी संभव नहीं है ।" [1] अत: यथार्थ के कलात्मक चित्रण के लिए रचनाकार को ईमानदार तो होना ही चाहिए । यह ईमानदारी यथार्थवादी रचनाकार से अपेक्षित भी है । जब वह युग के सत्य का उद्‌घाटन करता है तो वह सत्य युग के व्यापक समाज का सत्य बनकर राजसत्ता, धर्मसत्ता या किसी भी प्रकार का अमानवीय व्यवस्था के पतन के लिए हथियार भी बन जाता है, अत: यथार्थ सच्चाई और ईमानदारी से नि:सृत होता है । " जाहिर है कि सच्चाई कोई सेब नहीं है कि कोई भी उसे उठा ले । सत्य या तो इस पक्ष की तरफ है या उस पक्ष की तरफ । एक लेखक को सत्य की प्रकृति की पड़ताल करके पक्ष चुनना होगा ।" [2] सत्य अपनी प्रवृत्ति में खतरनाक और कटु होता है इसलिए यह पक्षधर होता है । समाज में व्याप्त अंधकार और इसके कारण को जनता के समक्ष यथार्थ में प्रस्तुत करने की क्षमता होती है । जनता अपने जीवन की गरीबी और अपने शोषण के कारण को समझकर शासकवर्ग से विद्रोह कर देती है । यथार्थ में उद्‌घाटित सत्य समाज के व्यापक हिस्से का कल्याण का कार्य करता है तो अमानवीय शासकवर्ग की सत्ता के

---

1. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ0219
2. हावर्ड फास्ट- साहित्य और यथार्थ, पृ0 18

लिए यह सत्य खतरनाक होता है । यथार्थ में समाज के अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति मौजूद होती है । यथार्थ द्वन्द्वात्मक होता है । लेनिन के अनुसार " यह पक्षधरता बाह्यजगत में व्यक्ति के द्वारा मनमाने तौर पर नहीं लाई जाती बल्कि यह यथार्थ के अन्तर्निहित प्रेरक बल है जो यथार्थ के सही द्वन्द्वात्मक चित्रण के जरिये सचेतन बनता है और कार्य में आता है । " [1]

समय के परिवर्तन के साथ युग का यथार्थ भी बदलता है । एक युग का सच दूसरे युग का सच नहीं होता क्योंकि समाज-विकास-क्रम में मनुष्य और समाज के बीच के संबंध में परिवर्तन होता रहता है । मनुष्य और समाज की आवश्यकता भी बदलती रहती है, अत: यथार्थ भी बदल जाता है । परन्तु अतीत का यथार्थ बिल्कुल उपेक्षित नहीं होता है । अतीत और वर्तमान में निरंतरता होती है । अतीत का सुंदर यथार्थ वर्तमान को प्रभावित करता है जिसका संवाहक संस्कृति है । यथार्थ अपनी विकास प्रक्रिया में रूप बदलकर मौजूद रहती है, लेकिन एक युग विशेष का संपूर्ण यथार्थ के साथ ऐसा नहीं होता है । कुछ यथार्थ सम्पूर्ण आगत-अनागत युग के लिए सत्य है- प्रेम,मानवता आदि । युग परिवर्तन से प्रेम, मानवीयता,बंधुत्व आदि के स्वरूप में परिवर्तन होता है लेकिन उसके अंदर प्रवहमान मानवीय भावना के सार में परिवर्तन नहीं होता है । अधिकांश यथार्थ युग के अनुसार होता है, युग के परिवर्तन के साथ ही यह बदल जाता है या बीते हुए समय के

---

1. डा. नामवर सिंह- आलोचना, पृ0 37

साथ चूक जाता है । अत: यथार्थ परिवर्तनशील है और नये युग का यथार्थ प्राचीन युग का यथार्थ से भिन्न होता है । यथार्थ शाश्वत नहीं होता है । यथास्थितिवादी या व्यवस्था समर्थक प्राय: वर्तमान यथार्थ का विरोध करते हैं । अर्न्स्ट फिशर कहते हैं -" करना की जगह "होना" को परिवर्तनशील यथार्थ की जगर मिथक को चुनने वाले लोग, प्राय: अनजाने ही ऐसा इसलिए करते हैं कि उन्हें सामाजिक उथल-पुथल से भय होता है । ब्रेश्ट ने कहा था, " चूँकि चीजें जैसी हैं, वैसी हैं, इसलिए वे जैसी हैं वैसी नहीं रहेंगी । इस सच को नकारने के लिए " मिथकीय अस्तित्व " की दुहाई दी जाती है । "[1] व्यवस्था समर्थक मिथक को परिवर्तनशील यथार्थ की जगह स्थापित करते हैं जो वर्तमान युग में अपना मूल्य खो चुके हैं या व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाने में सहायता प्रदान करते हैं पर यह यथार्थ की तरह ही सच है कि यथार्थ परिवर्तनशील है यथार्थ युग की संवेदना, वेदना इच्छा आदि को समेट लेता है । रचनाकार अपनी कल्पना से रचना में कलात्मक यथार्थ का चित्रण कर एक सुन्दर आदर्शमय समाज का चित्र प्रस्तुत कर देता है जो युग के अधिकांश जनता की आकांक्षा होती है । मनुष्यों की आवश्यकता ही यथार्थ को समाप्त भी करती है और जन्म भी देती है । युग की आवश्यकता जब व्यक्ति या जनता के लिए सहायक नहीं रह पाती तब यथार्थ में निहित आदर्श सामाजिक -विकास-प्रक्रिया में समाप्त हो जाता है

---

1. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ0 105

और नया यथार्थ जन्म लेता है, जो सुंदर और सुखमय होता है, वस्तुत: यथार्थ अपने समाज की स्थितियों के अनुकूल होता है जो सुंदर और कुरूप दोनों होते हैं । सुंदर यथार्थ भविष्य के युग के लिए अनुकरणीय होते हैं । कुरूप समाज यथार्थ में उचित विरोधी शक्तियों के अभाव में बना रहता है जो अपने युग-विशेष की परिस्थितियों के अनुकूल ही उसमें आदर्श निहित होता है लेकिन हर यथार्थ में द्वन्द्वात्मकता होती है । हर यथार्थ में दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ मौजूद होती हैं जिनमें संघर्ष जारी रहता है और अनुकूल समय में नूतन यथार्थ का सृजन होता है युग के बदलने की प्रक्रिया भी शुरू हो जाती है । डा॰ नामवर सिंह के अनुसार -" पिछले युग की वास्तविकता में निहित आदर्श का खंडन इसलिए करते हैं कि उसे बदलकर किसी दूसरे आदर्श का निर्माण करना चाहते हैं । हमारी आवश्यकता हमारे आदर्शों को उत्पन्न करती हैं और समाप्त भी ।"[1] अत: रचनाकार को समाज के प्रति सचेत होना चाहिए । युग-परिवर्तन के कारणों का ज्ञान आवश्यक है । समाज में मनुष्य के जीवन की सारी स्थितियों को जानने वाला रचनाकार ही स्वच्छ सुंदर यथार्थपरक रचना दे सकता है । इसलिए रचनाकार को नये यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए नवीन साधनों की जरूरत होती है । ये नवीन साधन युग की बदली हुई परिस्थितियों के यथार्थ को उद्घाटन करने में सक्षम हो, रचनाकार को विशेष ध्यान देने की जरूरत है ।

---

1. डा॰ नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ0 64

साहित्य में यथार्थ के प्रति रचनाकार के दृष्टिकोण या उसकी विचारधारा को लेकर आत्मवादी और भौतिकवादी आलोचकों और रचनाकारों के मतभेद रहे हैं । बाह्य-संसार जो रचना में उतरता है, वस्तुगत है या आत्मगत है - जब आरम्भ में ही वैचारिक भिन्नता है तो यथार्थ के चित्रण में विचारधारा की भूमिका के प्रश्न पर भी इनमें मतभेद होना अनिवार्य है ।

यथार्थ की पहचान, चयन तथा उसमें कल्पना, अनुभूति का योग तथा यथार्थवाद और यथार्थ आदि की चर्चा में कहीं स्पष्टत: और कहीं अस्पष्टत: विचारधारा की चर्चा उभर हुई है । यथार्थ प्रत्येक युग के सत्य को उद्‌घाटित करता है और सत्य पक्षधर है इसलिए यथार्थ भी पक्षधर है, जहाँ पक्षधरता की स्थिति हो, वहाँ पूर्वग्रह का होना भी आवश्यक है, विचारधारा केवल पूर्वग्रह नहीं है, विचारधारा, के व्यापक सीमा में विचार, आस्था विश्वास और मूल्य चेतना निहित होते हैं, यह चेतना एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में बनती है जो सामाजिक होते हैं । इस सामाजिक चेतना में गतिविधियों का संचय एवं संगठन होता है जो चेतना को अपने अनुकूल बनाने की शक्ति रखता है । डा॰ मैनेजर पाडेय " कथा यथार्थ की विजय " का अर्थ विचारधारा की पराजय है ?" नामक लेख में लिखते हैं -" एक विचारधारा में अपने समय के यथार्थ से काल्पनिक संबंध व्यक्त होते हैं तो दूसरी में यथार्थ से वास्तविक संबंध भी, उसमें यथार्थ का भ्रम होता है और वास्तविकता भी,

यथार्थ का सच्चा बोध होता है और यथार्थ की विकृति भी । अपने युग के यथार्थ से संबंध के रूप के अनुरूप ही विचारधारा का स्वरूप बनता है।"[1] अपने युग के यथार्थ के अनुकूल विचारधारा का मतलब है यथार्थ में विचारधारा अपने युग की स्थिति परिस्थिति के अनुसार है । युग के बहुसंख्यक जनता का यथार्थ राजसत्ता के अनुकूल भी संभव है; यह अनुकूलता स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों हो सकती है । रचना के महान युगों में प्राय: "युगानुकूल विचार-धारा पायी जाती है अर्थात राजसत्ता और अधिकांश जनता का यथार्थ और उसमें व्यक्त विचारधारा एक समान हो - संतुलन की स्थिति होती है और ऐसी स्थिति में एक वर्ग के हित सबके सामान्य हित दिखाई देते हैं । ऐसी स्थिति की चर्चा करते हुए अंर्स्ट फिशर कहते हैं, " ऐसे समय में जादुई भ्रम की दशा में जीवित और कार्यरत कलाकार एक सर्वव्यापी समिष्ट के जन्म की प्रत्याशा करता था । मगर ज्यों-ज्यों उसकी प्रत्याशा की भ्रामक प्रकृति स्पष्ट होती गई, ज्यों-ज्यों ऊपर से दिखाई देनेवाली एकता विघटित होती गई ज्यों-ज्यों वर्ग संघर्ष पुन: भड़कने लगा और ज्यों-ज्यों इस नई परिस्थिति के अंतर्विरोध तथा अन्याय तीखी बेचैनी पैदा करने लगे ,त्यों-त्यों कलाओं और कलाकारों की स्थिति अधिक कठिन तथा अधिक समस्यामूलक होती गई।"[1] जब संतुलन का कोहरा सामाजिक विकास-प्रक्रिया में छंटता है तब समाज वर्गों में विभक्त दिखाई देता है,

---

1. हरिहर प्रसाद - प्रस्ताव, पृ0 26
2. अंस्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ0 53

उनमें संघर्ष अंतर्निहित होते हैं । —सत्ता से संचालित क्रूर व्यवस्था के विरूद्ध समाज का व्यापक हिस्सा संघर्ष करता है । राजसत्ता और जनता के बीच का यह संघर्ष युग की सच्चाई है जो जनता के लिए असहनीय है, अत: जनता का हथियार विचारधारा ही होता है और उस क्रूर यथार्थ में भी राजसत्ता की विचारधारा ही नहीं अपितु जनता को मुक्ति दिलाने वाली विचारधारा के निर्माण का सूत्र भी है । जो उसमें द्वन्द्वात्मकता की स्थिति में मौजूद है । शासक वर्ग की विचारधारा उसकी क्रूर सत्ता को अक्षुण बनाने के लिए है तो उस क्रूर सत्ता से मुक्ति दिलाने वाली विचार-धारा भी है जिसमें द्वन्द्व होता है । अत: रचनाकार समाजके इस विचार-धारात्मक यथार्थ से कटकर नहीं रह सकता । राजनीति यथार्थ में निहित होती है । कलात्मक यथार्थ चित्रण में राजनीति का मिश्रण भी होता है लेकिन सौंदर्यबोधी विचारधारा में यह राजनीति समाज की राजनीति से अलग दीखती है । जब राजनीति और विचारधारा पर्याय हो जाय और उससे साहित्य का संबंध कलात्मक न होकर विशुद्ध विचारधारात्मक हो जाय तो साहित्य की कलात्मकता सूख जाती है और वह साहित्य न रहकर मात्र शास्त्र में बदल जाता है । रचनाकारकीअपनी विचारधारा के अतिरिक्त सौंदर्यबोधी विचारधारा होती है जो यथार्थ और चेतना के बीच सौंदर्यपरक संबंध स्थापित करता है । डा० मैनेजर पाण्डेय अपने उसी लेख में मार्क्स को उद्धत करते हुए कहते है -" सौंदर्यबोधी विचारधारा आर्थिक आधार से और राजनीतिक दार्शनिक बिचारधाराओं से भी सापेक्षत: स्वतंत्र होती है।

साहित्य का विचारधारात्मक रूप का खंडन करने वाले प्राय: विचारधारा को राजनीतिक विचारधारा का पर्याय समझते हैं, जबकि मार्क्स दोनों को एक नहीं मानते ।"[1] साहित्य में विचारधारा और राजनीति पर्याय नहीं होते हैं; साहित्य में विचारधारा यथार्थ की प्रस्तुतीकरण में सहायक होती है । रचनाकार की इस विचारधारा के अतिरिक्त सौंदर्यबोधी बिचारधारा का यथार्थ का साहित्य में कलात्मक चित्रण में महत्वपूर्ण योग होता है लेकिन इस बात से इतना तो तय है कि साहित्य और रचनाकार की विचारधारा में संबंध है । कला या साहित्य की परिकल्पना में विचारधारा निहित होती है; कुछ विद्वानों की राय है, पर लुई आल्थुसेर इसके विपरीत राय बनाते हैं, उनकी दृष्टि में कला विचारधारा नहीं है लेकिन उन दोनों के बीच के संबंध को नकारते नहीं हैं । डा॰ मैनेजर पाण्डेय अपने उसी लेख में में लुई आल्थुसेर से भी सामना करते हैं आल्थुसेर के कथन को अपने लेख में इस प्रकार नोट करते हैं -" ..... मैं सच्ची कला को विचारधाराओं में नहीं गिनता, लेकिन कला का विचारधारा से विशिष्ट संबंध होता है। कला उस विचारधारा को देखने अनुभव करने और बोध करने में मदद करती है जो यथार्थ की ओर संकेत करती है । कला विचारधारा से पैदा होती है, लेकिन पैदा होने के साथ ही आंतरिक अलगाव की प्रक्रिया के सहारे वह विचारधारा स्वतंत्र हो जाती है । कला विचारधारा से स्वतंत्र होकर विचारधारा की ओर संकेत करती है । "[1]

1॰ हरिहर प्रसाद- प्रस्ताव; पृ0 26

डा॰ मैनेजर पाडेय आल्थुसेर से सहमत एक सीमा तक हो पाते हैं कि कला और विचारधारा के बीच संबंध होते हैं ।रचनाकार की सर्जनात्मक प्रक्रिया के कारण ही कला या साहित्य विचारधारा से स्वतंत्र हो जाता है और साहित्य विचारधारा से स्वतंत्र होकर उसकी ओर संकेत भी करता है।यथार्थ के चित्रण में रचनाकार का दृष्टिकोण उनके सौंदर्यबोधी दृष्टिकोण से रचना में कलात्मक रचाव प्राप्त करता है लेकिन यह भी संभव है कि रचनाकार की सघन सर्जनात्मक प्रकिया में रचनाकार की विचारधारा के विरुद्ध भी यथार्थ का चित्रण हो जाय । विचार, संवेदना,भाषा और कल्पना के सघन रचनात्मक दबाव से ही रचना में व्यक्त यथार्थ में निहित विचार रचनाकार की घोषित विचारधारा के प्रतिकूल हो जाते हैं । डा0 पुरुषोत्तम अग्रवाल " किसान चेतना" के काव्य - प्रतिमान"नामक लेख में कला और विचारधारा की इसी समस्या पर चर्चा करते हैं, उनके अनुसार -" सर्जनात्मक प्रकिया के कारण ही यह घटना घटित होती है कि कृति कृतिकार के वैचारिक आशय से स्वायत्त हो जाए, उसके सीमित अभिप्राय से आगे - बल्कि कई बार उसके घोषित वैचारिक आग्रह के विपरीत बोध की वाहिका बन जाए ।

मार्क्सवादी साहित्य में विचारधारा को "छद्म चेतना" भी कहा गया है । उसके कल्पना प्रधान स्वरूप पर बल दिया गया है कि विचारधारा

1॰ डा॰ नामवर सिंह - आलोचना, पृ0 39

में यथार्थ के वास्तविक बोध के बदले यथार्थ का भ्रम अधिक होताहै । विचारधारा के इस रूप के अनुसार विचारधारा का यथार्थ से सम्बंध होता है लेकिन उसमें यथार्थ का प्रतिबिम्ब उल्टा होता है।जार्ज लुकाच, अल्थुसर आदि विद्वान विचारधारा के इस रूप से प्रभावित प्रतीत होते हैं । जार्ज लुकाच " विचारधारा छद्म चेतना है" और एंगेल्स के इस कथन " यथार्थवाद लेखक के विचारों के बावजूद प्रकट हो सकता है।"[1] से प्रभावित हैं और लुकाच भी सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार - लेखक की विश्वदृष्टि और यथार्थ-चित्रण के बीच विरोध, वास्तव में लेखक की चेतना के दो स्तरों में बसनेवाली विश्वदृष्टियों के बीच का विरोध है । रचनाकार की चेतना के अपन स्तर और भीतरी अन्तर्दृष्टि में द्वन्द्व होता है । अन्तर्दृष्टि की विजय में यथार्थवाद की विजय निहित है।"[2]

20वीं शताब्दी में जार्ज लुकाच और बर्तोल्ड ब्रेश्ट का यथार्थवाद पर बहस से साहित्यिक दुनिया परिचित है । लेवतोल्सतॉय और बालजाक जैसे साहित्यकारों की रचनाओं में आये यथार्थवाद और रचनाकार की विचार-धारा पर इन दो लेखकों के बीच की बहस बहुत महत्वपूर्ण है । तोल्सताय और बालजाक की रचनाओं में अपने वर्ग-दृष्टिकोण के प्रतिकूल यथार्थ का चित्रण हुआ है राजसत्ता का समर्थक बालजाक रचना के स्तर पर ईमानदारी

---

1. डा. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ 236
2. वही वही पृ0 237

और निष्ठा के साथ फ्रांस के पतनशील सामंतशाही व्यवस्था में आम जनता के यथार्थ से जुड़ पाते हैं और महान रचना का निर्माण करते हैं जो उन्हें यथार्थवादी लेखकों के बीच महान बनाता है । तोल्सतॉय भी आत्मवादी और सामंतवादी व्यवस्था के समर्थक रचनाकार हैं लेकिन जारशाही राजसत्ता के आतंक से ग्रस्त रूसी जनता की भयावह स्थिति से वे आँख नहीं फेरते बल्कि उस यथार्थ से जूझते हैं और सर्जनात्मक स्तर पर अपनी वर्ग दृष्टि का विरोध करके जनता के यथार्थ से स्वयं को जोड़ पाते हैं । लुकाच के अनुसार " वह सच्चे यथार्थवाद का सार तत्व है, अर्थात किसी महान लेखक की सत्य के प्रति जिज्ञासा तथा निष्ठा, यथार्थ के प्रति उसकी अदम्य आसक्ति। नीतिशास्त्र की शब्दावली में इसे रचनाकार की ईमानदारी तथा सच्चाई कह सकते हैं, बालजाक जिसका अद्वितीय उदाहरण है ।"[1]

ब्रेख्ट रचना में यथार्थ के उद्घाटन में लेखक के दृष्टिकोण को सचेत रूप से महत्वपूर्ण मानते हैं । लेखक जिस समाज में रहता है उसके अनुरूप और विरूद्ध भी दृष्टिकोण से युक्त हो सकता है, यह उसके वर्ग चरित्र पर निर्भर है । ब्रेख्ट "जार्ज लुकाच के विरोध में " नामक लेख में यथार्थ के प्रति रचनाकार की दृष्टि को स्पष्ट करते हैं उनके अनुसार -" तौल्स्ताय बनों- लेकिन उसकी कमजोरियाँ छोड़कर । बालजाक बनो - लेकिन फिर पूरा बालजाक बनो ।"[2] फिर आगे कहते हैं -" बालजाक विरूपता के कवि हैं।

---

1. शिव कुमार मिश्र - मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन, पृ0 304
2. डा. नामवार सिंह - आलोचना, पृ0 12

उनके नायकों का जो बहुविध चरित्र है उनका उज्जवल पक्ष और छायापक्ष है वह उत्पादन के विकास के द्वन्द्व को ही गरीबी की प्रगति के रूप में प्रतिबिम्बित करता है । " उसने व्यापार को काव्यात्मक बना दिया। लेकिन बालजाक सर्वप्रथम एक व्यापारी था - ऋण से लदा व्यापारी.... उसने सट्टेबाजी शुरू की .... भुगतान रोक दिये और कर्ज अदा करने के लिए उपन्यास लिखे ।"[1] ब्रेश्ट रचनाकार के वर्ग-दृष्टिकोण को रचना में महत्व मानते हैं ।

समस्याग्रस्त संसार की वास्तविकता से आत्मवादी रचनाकार भी टकराता है, उसे रचना की प्रक्रिया में अनुस्युत करता है और इस रचना प्रक्रिया में युग की विचारधारा के अनुकूल हो यथार्थ का चित्रण कर देता है । अपनी घोषित विचारधारा के प्रतिकूल यह यथार्थ चित्रण होता है । आत्मवादी शिलर अपनी कविता की निम्न पंक्तियों के माध्यम से समाजवादी यथार्थवाद की संभावना को व्यक्त करते हैं :-

"ऊँचे उड़ो समय से ऊपर
छटकर अपने ही पंखों पर
देखो अपने आईने में
कल की सुबह सुनहरी ।"[2]

---

1. डा. नामवर सिंह - आलोचना, पृ0 13
2. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ0 122

फिशर साहित्य और विचारधारा में विरोध के लिए लोक प्रिय है, लेकिन डेनियल बेन के " विचारधारा के अंत " से असहमत हैं फिशर अपनी पुस्तक " कला की जरूरत " में कई जगह एक व्यापक तथा सही दृष्टि लेखक में होने की बात करते हैं लेकिन लेखक अपनी दृष्टि के प्रति अंधमुक्त न हो, इसके प्रति फिशर सावधान रहते हैं, उनके अनुसार " सही निर्णय के लिए, आवश्यक रोशनी की एक "झलक" पैदा करने के लिए एक व्यापक तथा सही दृष्टि बहुत जरूरी है । अगर आगामी कल और परसों को एक पूर्वकल्पित नमूने में जड़ देने की इच्छा लेखक की नजरों से "आज" को ओझल कर देती है अगर अपने दृष्टिकोण को "अकाट्य" बनाने के लिए खड़ी की गई मतांधता की दीवार वस्तुत: उसे अंधा कर देती है तो सारी वस्तुपरकता खतरे में पड़ जाएगी ।" [1] फिशर कला में विचारधारा के अतिशय प्रयोग से यथार्थ के नष्ट होने से आतंकित हैं, लेकिन वे किसी समस्या के समाधान के लिए एक सामान्य दृष्टि पर अवश्य जोर देते हैं उनके अनुसार -" चीजों को समझने या निर्णय करने में कोई भी तब तक समर्थ नहीं हो सकता, जब तक वह एक निश्चित न कर ले कि उसे कहाँ खड़े होकर, अर्थात कौन सा दृष्टिकोण अपनाकर चीजों को देखना है और दृष्टिकोण चाहे जान बूझकर अपनाए जाए अथवा अनजाने, दृष्टिकोण अपनाने का मतलब है पक्षधर होना इसलिए किसी विवाद का निर्णय उसमें शामिल कोई पक्ष ही कर सकता है । मगर काफ्का जब यह कहता है कि वह स्वयं एक पक्ष होने के कारण वह निर्णय नहीं कर सकता, तब इस संभावना की अनदेखी कर

---

1. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ0 121

देता है कि एक ऐसा प्रतिबद्ध दृष्टिकोण भी हो सकता है जो मोटे तौर पर सामाजिक यथार्थ से मेल खाता हो।" [1] अत: यथार्थ के चित्रण में विचारधारा आवश्यक है । लुकाच रचनाकार के दृष्टिकोण के प्रतिकूल रचना में यथार्थ के चित्रण के समर्थक है । रचनाकार का अतीत का संस्कार रचनाकार की चेतना में विद्यमान होता है । कभी-कभी सर्जनात्मकता के तनाव में रचनाकार के घोषित दृष्टिकोण या विचारधारा पर संसार हावी हो जाता है और रचना में यथार्थ का उद्‌घाटन करता है । रचनाकार का संस्कार भी विचारधारा का एक रूप होता है ।

हिन्दी साहित्य इस विवाद से पृथक नहीं है । मुक्तिबोध और केदारनाथ अग्रवाल जैसे महान रचनाकारों के बहाने डा० राम विलास शर्मा, डा० नामवर सिंह, डा० मैनेजर पांडेय और डा० पुरूषोत्तम अग्रवाल, राजीव सक्सेना आदि विद्वानों ने यथार्थवाद और विचारधारा के बीच संबंधों पर तथा रचनाओं में व्यक्त यथार्थमेंनिहित विचारधारा और रचनाकार की विचारधाराओं के संबंधों पर गहन विचार-विमर्श हुआ है और यह विचार विमर्श आज भी जारी है । केदारनाथ अग्रवाल सरल संवेदना के कलाकार हैं और मुक्तिबोध फंतासी शैली में जटिल संवेदना के कलाकार हैं, इसलिए केदारनाथ अग्रवाल की रचना में जीवन का यथार्थ (किसान, मजदूर राजनीति, विचारधारा आदि सरल संवेदना से मुक्त रचना में साकार हो जाता है,

---

1. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ० 120

जो तुरन्त ग्राह्य हो जाता है, इसके विपरीत मुक्तिबोध की रचना में संवेदना के जटिल होने और फंतासी के प्रयोग होने से जीवन का यथार्थ जटिल है । डा॰ रामविलास शर्मा,केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन की तुलना में मुक्तिबोध को यथार्थवादी रचनाकार नहीं मानते । " नयी कविता और अस्तित्ववाद" नामक पुस्तक में डा॰ रामविलास शर्मा का अध्याय "कविता में यथार्थवाद और नयी कविता " मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल नागार्जुन पर केन्द्रित है । वास्तव में जब यथार्थवाद को राजनीतिक पूर्वग्रह या किसी राजनीतिक पार्टी के पार्टी-साहित्य का हथियार बना दिया जाता है तो मुक्तिबोध जैसे कठिन, जटिल संवेदनाबोध वाले रचनाकार पर कई प्रकार के आरोप लगते हैं । नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, प्रेमचंद जैसे रचनाकार अपनी संवेदना में सरल और लोकप्रिय हैं लेकिन तब क्या जयशंकर प्रसाद और मुक्तिबोध जैसे जटिल सर्जकों की रचनाएँ बेकार हैं । सोवियत यूनियन में स्तालिन का युग साहित्य में जदानोव का युग माना जाता है जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी की नीति ही रचना में यथार्थ के उद्घाटन का हथियार माना जाने लगा और इसीलिए उस समय के साहित्य में यांत्रिकता और सपाटपन भरे पड़े हैं । मुक्तिबोध की रचनाशैली फंतासी, प्रसाद के महाकाव्य " कामायनी" में प्रयुक्त शैली ही है । फंतासी शैली में यथार्थ व्यक्त जीवन का यथार्थ पाठक को अत्यंत विचलित और तिलमिला देने वाला होता है । कल्पना, संवेदना, विचारधारा के संबंध अमर से असम्पृक्त, विरल और टूटे दिखाई देते हैं लेकिन समग्रता में देखने पर मानव

जाति के संवेदनात्मक दृश्य उभर आते हैं । फंतासी भाववादी शैली ही नहीं अपितु वस्तुवादी शैली भी है । फिशर फंतासी शैली के विषय में लिखते हैं -" काफ्का ने "ब्रह्मांड" में अथवा चीजों के उद्गम में नहीं, बल्कि एक विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति में मानवीय वेदना का चित्रण किया था । उसने फंतासी व्यंग्य की एक शानदार विधा का आविष्कार किया था, जिसमें स्वप्न और यथार्थ परस्पर गुँथे रहते हैं । इसके जरिये वह एक अजनबी दुनिया में प्रच्छन्न शक्तियों के विरूद्ध निराशामय संघर्ष करते हुए तथा " दुर्ग" की-सी ही सही, किसी प्रकार की सामुदायिकता के लिए तरसते हुए एकाकी व्यक्ति के विद्रोह का चित्रण करना चाहता था।"[1] मुक्तिबोध भी हिन्दी साहित्य में गरीब जनता की निराशा, हताशा और वेदना को साकार करते हैं जिसकी संख्या बेशुमार है, लेकिन असंगठित । मुक्तिबोध की जटिल संवेदना में विचार अनुस्यूत है क्योंकि संवेदना, विचार कल्पना और अनुभूति से पृथक नहीं हो सकती । फंतासी, जटिल सर्जना में विचारधारा है । डा॰ पुरूषोत्तम अग्रवाल मुक्तिबोध पर विचारधाराहीन फंतासी और कविता का आरोप का खंडन करते हैं,'" किसान चेतना" के काव्य-प्रतिमान"' नामक लेख में वे लिखते हैं -" कवि के मन में जो वैचारिक मंथन होता है, वह उसके भावबोध तथा इंद्रिय चेतना से निरन्तर संलग्न रहता है । इसी कारण कविता को सीधे वैचारिक संदेश से निचोड़ कर उस पर ठप्पा लगाने की आलोचना पद्धति अत्यंत खतरनाक है । सही सवाल है कि विचार के साथ कवि का रिश्ता कितना सर्जनात्मक है ।"[2]

1॰ अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ0 102
2॰ डा॰ नामवर सिंह - आलोचना, पृ0 38

अत: रचना में या रचना में यथार्थ के उद्घाटन में विचारधारा यथार्थ में रचनाकार की विचारधारा के अनुकूल या प्रतिकूल दोनों स्थितियों में प्रतिबिम्बित होती है । महान रचनाकार या महान यथार्थवादी रचनाकार वही है जो रचना में यथार्थ को विचारधारा की अनुगामिनी नहीं बनाते हैं अपितु सर्जनात्मक प्रकिया में कलात्मक यथार्थ में अनुस्यूत कर देते हैं । विचारधारा रचना के प्रत्येक घटक में मौजूद होते हैं । " क्या यथार्थ की विजय " का अर्थ विचारधारा की पराजय है ?" नामक लेख में डा॰ मैनेजर पाँडेय लिखते हैं -" सच्चाई यह है कि विचारधारा रचना का केवल एक तत्व नहीं है। वह रचना की उत्पत्ति में होती है और प्रभाव में भी । वह अन्तर्वस्तु में होती है और रूप में भी, बल्कि दोनों की संघटना में होती है । ..... वह यथार्थ के बोध और पुनर्सृजन में होती है । वह कृति के सम्पूर्ण संरचना में होती है, यहाँ तक कि वह भाषा, शैली और टेकनीक में भी मौजूद होती है ।"[1] इस प्रकार यथार्थ के चित्रण की अवधारणा में विचार की भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता है ।

विचारधारा और यथार्थ के संबंधों से यह स्पष्ट हो गया है कि यथार्थ की व्यापकता रचना में त्रिपरिवेशीय है । सम्पूर्ण यथार्थ विषय और वस्तु के समस्त संबंधों का सम्पूर्ण योग होता है, जिसमें अतीत और भविष्य के संबंध होते हैं । यथार्थ में न केवल घटनाएँ, बल्कि व्यक्तिगत अनुभव समष्टिगत अनुभव, स्वप्न, पूर्वाभ्यास, भावनाएँ, कल्पनाएँ और विचार होते हैं ।

---

1. हरिहर प्रसाद- प्रस्ताव, पृ0 30

जयशंकर प्रसाद कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, निबंधकार के अतिरिक्त दार्शनिक चिंतक भी हैं । प्रसाद जी के साहित्यिक संसार के व्यापक विस्तार में गद्य और पद्य के साहित्यिक रूपों के अस्तित्व के कारण और दार्शनिक तत्वबोध के कारण यथार्थवाद अपनी विविध रूपों में रचनाओं में अनुस्यूत हैं । प्रसाद जी आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित हैं । ईंद्रिय अनुभूति से बाह्य-संसार को देखते हैं लेकिन उनकी दृष्टि में अदृश्य संसार और बाह्य संसार के बीच के संबंध विलक्षण हैं । बाह्य संसार के अस्तित्व का नकार नहीं है; उन्हें इस संसार से अगाध प्रेम है।

आध्यात्मिक विचारकों में यह आम धारणा है कि रूप ही महत्वपूर्ण है, यही अंतिम पूर्णता है इसके अंदर निहित वस्तु द्वितीयक या गोण । इसी धारणा से अभिभूत हो सारे आध्यात्मिक विचारक रूप की पूर्णता, जो अंतिम सत्य या यथार्थ है, को प्राप्त करने लिए क्रियाशील रहता है ।यह उस व्यवस्था का आध्यात्मिक सिद्धांत है जो भौतिक तत्व का निर्धारण करती है " इस दृष्टि में आदिम कुंभकार का अनुभव प्रतिबिंबित होता है, जो यह है कि पहले मैंने एक रूपाकार का निर्माण किया और फिर उसमें एक अनाकार द्रव्य भर दिया ।"[1] आदिम कुंभकार ईश्वर है । व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के रूप होते हैं जो उसमें समायोजित होते हैं और उसमें अंतिमता की संभावना निहित है । " व्यवस्था का विचार एक अंतिम सिद्धान्तहै । समस्त अस्तित्व

---

1. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ0 126

अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं । समस्त प्राणी अपने आप में व्यवस्थित हैं क्योंकि ईश्वर ने उनकी सर्जना की है ।"[1] अर्थात ईश्वर के अतिरिक्त सारे प्राणी अपूर्ण हैं । ईश्वर उसमें पूर्णता की इच्छा का भाव भरता है । इस प्रकार, अपूर्णता पूर्णता प्राप्त करने के लिए क्रियाशील होती है। आध्यात्मवाद की यह दृष्टि केवल संसार के अंदर तक ही सीमित नहीं है अपितु यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है । साहित्य भी इस दृष्टि से अछूता नहीं है। रूप शाश्वत है, अत: कला में रूप की प्राप्ति के पश्चात आध्यात्मिक रचनाकार विषय वस्तु को दूसरे स्तर पर छोड़ देता है । भौतिकवादी के यहाँ रूप भौतिक तत्व का एक विशिष्ट समूह है, एक विशिष्ट व्यवस्था । भौतिकवादी समझ है कि रूप के अन्दर वस्तु भी उतना ही महत्वपूर्ण है और दोनों में द्वन्द्वात्मक संबंध है और वस्तु लगातार बदलती रहती है और एक ऐसी अवस्था में आकर रूप से संघर्ष करने लगती है, और रूप भी इस तरह परिवर्तित होकर नया रूप जन्म लेता है, जिसमें परिवर्तित वस्तु या अन्तर्वस्तु कुछ समय के लिए एक बार फिर स्थायित्व पा लेती है । भौतिकवादी के यहाँ रूप और अन्तर्वस्तु दोनों बदलते हैं, जिसमें अन्तर्वस्तु ही मुख्य है, जिसके कारण रूप भी बदलता है । रचना के क्षेत्र में भी रचनाकार अन्तर्वस्तु को ही यथार्थ मानता है, पर रूप भी महत्वपूर्ण है ।

प्रसाद जी आध्यात्मिक हैं लेकिन वे रूप और उसके अंदर अन्तर्वस्तु

---

1. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, पृ 127

दोनों को प्रधान मानते हैं । प्रसाद जी परिवर्तन में विश्वास करते हैं - द्वन्द्वात्मक परिवर्तन । अत: रूप और अन्तर्वस्तु दोनों में परिवर्तन होता है । अमूर्त सौन्दर्यबोध का खंडन करते हुए " काव्य और कला" लेख में रूप की (मूर्त की (महत्ता प्रतिपादित करते हैं, उनके अनुसार-" सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता । सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं । इसलिए अमूर्त सौंदर्यबोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता ।"[1] इसी लेख में एक जगह रूप के अंदर अन्तर्निहित वस्तु की चर्चा करते हैं, उनके अनुसार " रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है वही तो प्रधान होगी।"[2] प्रसाद जी की दृष्टि व्यापक है जिसमें आध्यात्म तत्व और भौतिक तत्व की व्यापकता है और वे अद्वैत की अवस्था में होते हैं । उनके लेख में कई प्रमाण मिलते हैं जो उन्हें वस्तु जगत की ओर आकर्षित करते हैं । काव्य और कला" लेख में स्वर्ग-न र्क के अस्तित्व के विषय में इसाई धार्मिक संस्कृति की धारणा का प्रतिवाद करते हुए लिखते हैं-" कलुषित और मूर्त संसार निम्न-कोटि में, अमूर्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्च कोटि में ।"[3] मनुष्य का सुख दुख इसी संसार में है । स्वर्ग और नरक की कल्पना भी इसी संसार में है । " साहित्य में लोक-जीवन की प्रतिष्ठा और जयशंकर प्रसाद" नामक लेख में डा॰ राम विलास शर्मा कहते हैं -" आचार्य शुक्ल की तरह

1॰ श्री जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0 62
2॰ वही वही पृ0 69
3॰ वही वही पृ0 63

वह भी सौंदर्य की निरपेक्ष अरूप सत्ता नहीं मानते । यूरूप के भाववादी विचारकों और प्रसादजी में यह मौलिक भेद है । भाववादी लेखक सौंदर्य को भौतिक जगत से परे, एक अरूप सत्ता मानकर कला में उनकी छाया प्रतिष्ठत करने या संसार में उसकी छाया देखने की बात करते हैं।" [1]

उपर्युक्त उद्धरण और विचार-विमर्श निष्कर्षत: संकेत करते हैं कि प्रसाद जी आध्यात्मिक चेतना से वस्तुगत चेतना की ओर संक्रमण कर रहे हैं । उनके युग की वस्तुगत स्थितियां ही कुछ ऐसी हैं जहाँ आत्मा को बाह्य संसार की समस्या से टकराना ही पड़ता है । प्रसाद में संक्रमणकालीन दृष्टि है जिसमें दृष्टि निर्माण की प्रक्रिया निहित है ।

उपर्युक्त विवेचनों की रोशनी में प्रसाद जी के यथार्थवाद को समझा जा सकता है । प्रसाद जी छायावादी कवि हैं, स्वाभावत: स्वच्छंदता उनमें अर्न्तव्याप्त है । कल्पना, भावना, अनुभूति, संवेदना उनकी रचना को कल्पनाशील और रागात्मक बना देती हैं । स्वच्छंदतावादी कवि में कल्पना की अतिशयता होती है, जिसमें जीवन का प्रत्येक क्षेत्र रोमानी हो जाता है । कल्पना जीवन के यथार्थ को भ्रमित करती है, जो रचना में कलात्मकता के दबाव से आता है । डा0 नामवर सिंह " पाँचवे दशक की कविता " में लिखते हैं -" यथार्थ को रोमान की हल्की रंगीनी वास्तविक और मार्मिक बना देती है ।" [2]

---

1. राम विलास शर्मा- परम्परा का मूल्यांकन, पृ0 131
2. डा. नामवर सिंह- इतिहास और आलोचना, पृ0 77

प्रसाद जी दार्शनिक स्तर पर आनंदवादी हैं । प्रसाद जी जीवन को इस दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचनाओं में यह दृष्टि एक ऐसे आनंद की सृष्टि करती है जिसमें आध्यात्मिक आनंद है, इस आनंद में जीवन का यथार्थ रोमानी हो जाता है, इसकी तलाश होते ही जीवन एक झलक में दीख जाता है । " कलाकृति और आलोचना" नामक लेख में निर्मल वर्मा कहते हैं -"..... एक कलाकृति से साक्षात कभी - कभी एक गहरा आध्यात्मिक अनुभव भी होता है।..... जो किसी दार्शनिक धर्मशास्त्र के घेरे में नहीं आता, जो परम्परागत अर्थ में " आध्यात्मिक नहीं है जो मनुष्य को किसी धार्मिक संदेश देने का दावा नहीं करता -- लेकिन वह अपने में इतना सम्पूर्ण है कि एक कौंध में हमें अपनी " स्थिति के समूचे सत्य" से साक्षात करा देता है ।" [1] निर्मल वर्मा इसका कारण बताते हुए कहते हैं " यह तभी हो पाता है जब एक कलाकृति विभाजित मानस की पीड़ा और अंतर्द्वन्द्व से जन्म लेकर भी महज उसकी प्रतिच्छाया नहीं रहती वह पीड़ा एक दूसरा दरवाजा भी खोलती है जहाँ हर खंडित अनुभव के बाकी अवशेष दिखाई देते हैं -- जीवन की कुहेलिका में उपेक्षित, दबे हुए, तिरस्कृत किन्तु कलाकृति के आलोक में - उसी अनुभव को पूरा करते हुए, अर्थ देते हुए- जिसके कारण एक अद्भुत आनंद की अनुभूति होती है।" [2] 20वीं शती के आरम्भ में भारत ज्ञान-विज्ञान की ओर बढ़ता है । प्राचीन और नूतन के बीच संघर्ष, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बदलाव होता है । जीवन का यथार्थ

---

1. अशोक बाजपेयी - पूर्वग्रह, पृ0 45
2. वही वही पृ0 46

भी प्राचीन और नूतन के द्वन्द्व में संक्रमित होता है । जीवन का यथार्थ अतीत और वर्तमान के तनाव में निर्माण की प्रक्रिया में होता है । फलत: यथार्थ अपूर्ण, खंडित है, ज्ञान और विचारधारा की भी यही स्थिति है। प्रसादजी भी सामंतीय व्यवस्था के टूटने से नवजीवन में प्रवेश करते हैं - पूँजीवादी व्यवस्था का यह आरम्भ बिन्दु है । विचारधारा भी युग-विशेष के अनुरूप ही बनेगी संक्रमण काल में विचारधारा या दृष्टि भी निर्माण प्रक्रिया में ही होती है । मनुष्य का जीवन और उसके जीवन कासत्य ऐसी अवस्था में खंडित होते हैं ।

प्रसाद जी समय की वास्तविकता को साहित्य में चित्रण के पक्ष में है, जो युग का आदर्श है । " यथार्थवाद और छायावाद" नामक लेख में प्रसाद जी लिखते हैं -" साहित्य समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए उसमें आदर्शवाद का सांमजस्य स्थिर करता है ।दुग्ध-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वापी महत्वपूर्ण स्थान देती है जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है । उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है । " [1] प्रसाद के साहित्य में आदर्श और यथार्थ का सांमजस्य अनिवार्य है।रचना में यथार्थ का कलात्मक चित्रण वस्तुत: युग का आदर्श ही है । युग में परिवर्तन हो रहा है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य को युग के अनुकूल बनाने का अभियान छेड़ देते हैं, युग का यथार्थ

1.श्री जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0 123

साहित्य में आने लगता है । सामंती अभिरूचि से सिक्त रीतिकालीन मानसिकता और आधुनिक काल की नूतन पूँजीवादी व्यवस्था की मानसिकता की क्षमकक्षा में भारतेन्दु नूतन व्यवस्था के अनुरूप साहित्य का चित्रण करते हैं । प्रसाद " यथार्थवाद और छायावाद" में लिखते हैं - "श्री हरिश्चन्द्र ने प्राचीन नाट्य-रसानुभूति का महत्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भावधारा को वेदना तथा आनन्द में नये ढंग से प्रयुक्त किया ।..... श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था ।"[1] प्रसाद जी हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य- संस्कार और साहित्य में युग के यथार्थ के चित्रण का स्वागत करते हैं । प्रसाद जी साहित्य की इस प्रगतिशील धारा से अत्यंत प्रभावित है । " जाने अनजाने साहित्य की यथार्थवादी विचारधारा और हमारा स्वाधीनता आन्दोलन एक दूसरे से संबंधित हो गए और यह संबंध अनिवार्य था । यथार्थवादी साहित्य ने स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढ़ाया और स्वाधीनता संग्राम ने हमारे यथार्थवादी चिंतन को निखारा ।"[2] (हंसराज रहबर)। प्रसादजी भी युग के दस्तक को ध्यान से समझा और परखा । वैयक्तिक स्तर पर उसे अनुभूत करके परोक्ष-अपरोक्ष ढंग से रचना में इस यथार्थ का प्रतिबिम्बन करते हैं ।

प्रसादजी यथार्थवाद की विशेषता बताते हुए कहते हैं -" लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात । उसमें स्वाभावत: दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है।"[3] वे लघुता शब्द का विस्तार करते हैं, आगे

---

1. जयशंकर प्रसाद- काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ 123
2. हरिहर प्रसाद - प्रस्ताव, पृ0 42
3. जयशंकर प्रसाद- काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0 12।

लिखते हैं -" लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ।"[1] प्रसाद जी साहित्य के सिद्धांत की चर्चा करते हैं । प्राय: भाववादी, साहित्य में अनुभूति और विचारधारा में विरोध बताकर साहित्य और विचारधारा को पृथक कर देते हैं । प्रसाद जी विलक्षण प्रतिभाशाली है, भाववाद, भौतिकवाद की सीमा अतिक्रमण कर जाते हैं ।

प्रसाद जी का सम्पूर्ण साहित्य संस्कृति के प्रभाव में रचित है, इनके साहित्य को सभ्यता और संस्कृति का साहित्य कहें तो अतिश्योक्ति न होगी । संस्कृति इनकी रचना में यथार्थ है, अत: संस्कृति के परिवर्तन को प्रसाद जी सचेत होकर अध्ययन करते हैं । " यथार्थवाद और छायावाद " लेख में प्रसाद जी कहते हैं -" भारत के तरुण आर्य्यसंघ में सांस्कृतिक नवीनता का आंदोलन करने वाला दल उपस्थित था । वह पौराणिक युग के पुरुषों के चरित्र को अपनी प्राचीन महत्ता का प्रदर्शन मात्र समझने लगा । दैवी शक्ति से हटकर अपनी क्षुद्र तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था । इस रूचि के प्रत्यावर्तन को श्री हरिश्चन्द्र की युगवाणी में प्रकट होने का अवसर मिला ।"[2]

प्रसाद जी किसी भी आदर्श समाज के निर्माण में संस्कृति की

---

1. श्री जयशंकर प्रसाद -काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0 121
2. श्री जयशंकर प्रसाद- वही पृ0 122

भूमिका पर महत्व देते हैं । समाज-निर्माण-प्रक्रिया में यद्यपि संस्कृति भी परिवर्तित होती है । पर संस्कृति का परिवर्तन बहुत धीमा होता है । संस्कृति की उपेक्षा का अर्थ है यथार्थ की उपेक्षा । अशोक बाजपेयी पूर्वग्रह के संपादकीय में लिखते हैं -" पिछले पचास वर्षों में सृजनात्मक प्रयत्न का प्रभावशाली आधार संस्कृति के बजाय राजनीति होता गया है और इसलिए यह आश्चर्य नहीं कि यथार्थ के इस जटिल और जातीय स्मृति में अवस्थित बोध का धीरे-धीरे अवमूल्यन होता गया है ।"[1] प्रसाद जी समकालीन राजनीति को भी संस्कृति के स्तर पर ही देखते हैं और मूल्यांकित करते हैं क्योंकि साहित्य में समाज के संस्कृति, राजनीति, संघर्ष, परम्परा आदि का कलात्मक चित्रण नहीं होता है; साहित्य यथार्थपरक नहीं हो सकता, केवल संस्कृति को साहित्य में सर्जना का आधार बना देने मात्र से साहित्य में यथार्थ का एकांगी चित्रण ही होगा ।

किसी भी रचनाकार में इतिहासबोध समकालीन यथार्थ को ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया में रखकर समकालीन जीवन तथा भविष्य की योजना के अनुकूल निर्माण करता है, जिसे रचनाकार रचना का विषय बनाता है । प्रसाद जी के इतिहासबोध में संस्कृति, राजनीति निहित है संस्कृति मुखर रूप से ।

प्रसाद जी को स्वच्छंदतावादी यथार्थवादी यथार्थवादी कहा जा

---

1. अशोक बाजपेयी - पूर्वग्रह

सकता है । उनका गद्य साहित्य जहाँ कवि की भावना, कल्पना, कवि को पद्य से गद्य के धरातल पर ला खड़ा करती है । शैव दर्शन से प्रभावित प्रसाद जी की स्वच्छंद चेतना को आधार शैव दर्शन है " समस्त विश्व का जड़ और चेतन मूल चैतन्य से उद्भूत उसी का आविष्कार है ।"[1] जयशंकर प्रसाद और कथा साहित्य में स्वच्छंछतावादी यथार्थवादी" लेख में डाक्टर चंद्रकांत पांदिवडेकर लिखते हैं -" इसकी प्रत्यय के स्तर पर अनुभूति अपने अपने आप में मनुष्य की गहन चिंतन क्षमता, सहजबोध और जड़-चेतन के द्वैत के आरपार जानेवाली कल्पना की अद्भुत उड़ान का परिणाम है ।"[2] प्रसाद जी का स्वच्छंछतावाद समकालीन यथार्थ से संबंध रखकर भी व्यक्त होता है । सारे आधुनिक भारतीय रचनाकारों की स्थिति लगभग प्रसाद जी की तरह ही है, लगता है, स्वच्छंदतावाद प्रत्येक रचनाकार का संस्कार हो गया हो, पर समकालीन यथार्थ की मार से उनकी स्वच्छंदवृति आहत होती है, फलत: वे सभी यथार्थोन्मुख होने को बाध्य होते हैं, प्रेमचंद और प्रसाद दोनों यथार्थोन्मुख हुए हैं । भारतीय परिवेश की परिस्थितियों में सिद्धांत: परस्पर विरोधी स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद का विकास एक दूसरे को आहत करते हुए, घुलते-मिलते हुए विकास की ओर अग्रसर हुआ है क्योंकि स्वच्छंदतावाद का विकास भारत में पश्चिम की तरह नहीं हुआ है । भारत में स्वच्छंदतावाद के समय का समाज इस प्रकार है -

1. पूरा समाज आर्थिक स्तर पर पिछड़ा हुआ होता है या
2. धार्मिक रूढ़ियां और वर्जनाएँ उसकी संपूर्ण समाज में व्याप्त या
3. अंग्रेज -औपनिवेशिक सत्ता कायम थी ।

---

1. डा.अर्जुन शतपकी - जयशंकर प्रसाद : परिप्रेक्ष्य एवं परिदृश्य, पृ0 162 मधुसूदन स्वाहा
2. वही वही पृ0 161

युग और काल के अंतर के कारण भारतीय स्वच्छंदतावाद का आधार ठोस रहा है क्योंकि इसे पिछड़ा समाज मिलता है, जिनसे लेखक की अनुभूति संवेदना, कल्पना टकराकर बाधित होती है और पद्य से गद्य की ओर लेखक को जाने से बाध्य करती है। हिन्दी के लगभग सारे छायावादियों ने पद्य रचना के अतिरिक्त सुंदर और सारगर्भित गद्य रचना भी की है, इसके विपरीत यूरोपीय स्वच्छंदतावादियों के यहाँ ऐसे लेखक विरले ही मिलेंगे ।

अत: प्रसाद स्वच्छंदतावादी कवि के साथ-साथ यथार्थवादी लेखक भी हैं । समाज के विकास प्रक्रिया में स्वच्छंदतावाद, यथार्थवाद के पूर्व आता है। यह स्वाभाविक विकास है लेकिन भारत इस स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया में विचित्र विकास की दशा दिखाता है । पूँजीवाद और सामंतवाद एक-दूसरे के सहयोग से आज भी एक दूसरे के समानान्तर अग्रसर हैं । यही कारण है कि सामंती-व्यवस्था की प्रवृत्तिमूलक तत्व धर्म, जाति, नारी की पवित्रता आदि पूर्व की अपेक्षा विकसित भारतीय समाज में विद्यमान हैं ।

"ए हिस्ट्री ऑफ रियलिज्म " नामक पुस्तक में वोरिस सुचकोव ने लिखा है --" ..... स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद दोनों आंदोलन यह स्वीकार करते हैं कि पूँजीवादी यथार्थ व्यक्तिवाद के पक्ष में नहीं है लेकिन प्रगतिशील स्वच्छंदतावादियों ने मात्र पूँजीवाद की सामाजिक आलोचना ही की जबकि यथार्थवादियों ने उसमें सामाजिक विश्लेषण जोड़ा, जो उन्हें बालजाक के शब्दों में " ठोस परिणामों की ओर ले गया ।"[1] सुचकोव स्वच्छंदतावादी लेखक को

---

1. छोटाराम कुम्हार - स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद (शोधप्रबंध के रूप में) सन् 1978 ई. में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में प्रस्तुत शोध-ग्रंथ। पृ0 80

समाज से अलग नहीं समझते हैं बल्कि उसकी भूमिका की सराहना करते हैं । यथार्थवादी और स्वच्छंदतावादी भारतीय परिदृश्य में एक-दूसरे के साथ अग्रसर होते हैं ।

यथार्थवाद की अवधारण व्यापक करने की आवश्यकता है, भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विकास प्रक्रिया में ही प्रसाद का यथार्थवाद उद्घाटित होता है । भारतीय इतिहास, संस्कृति, परम्परा आदि का सम्पूर्ण लेकिन द्वन्द्वात्मक ज्ञान आवश्यक है अन्यथा प्रसाद का बहुस्तरीय जटिल यथार्थ का उद्भासन सम्भव नहीं है ।

xxx

द्वितीय अध्याय

समकालीन जीवन और लोक के यथार्थ की अभिव्यक्ति ।

समकालीन जीवन और लोक के यथार्थ की अभिव्यक्ति :

जयशंकर प्रसाद का लेखनकाल 1910ई. से 1936 ई. तक है। यह अवधि भारतीय स्वाधीनता का काल है। जीवन-जगत् से प्रसादजी को अगाध प्यार है। प्रथम अध्याय में इस पर विशद चर्चा हुई है। प्रसादजी समकालीन जीवन के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक के निर्माण और विनाश के बीच हमेशा रहते हैं, इनका दबाव प्रसादजी और उनकी रचनाओं में अवश्य पड़ता है। प्रसादजी राजनीति की अपेक्षा संस्कृति से अधिक संपर्क रखते हैं। राष्ट्र, समाज, संस्कृति की हलचलें उनकी रचनाओं में सर्जनात्मक स्तर पर अत्यंत विरल दृष्टिगत होती है। प्रसादजी अपने समय के दबाव से मुक्त नहीं हैं। सामाजिक जीवन में मानवीय मूल्यों की स्थापना में उनकी गहरी दिलचस्पी है। समाज-विकास-क्रम में नूतन मूल्यों का स्वागत करते हैं।संस्कृति उन मूल्यों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएं;उनमें यह चिंता बराबर रहती है। समकालीन संस्कृति स्वस्थ है तो राजनीति की दिशा भी उद्देश्यपरक होगी। समकालीन राजनीति को उनका इतिहास-बोध और संस्कृति-बोध दोनों प्रभावित करते हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों की विशाल सीमाओं में इतिहासबोध की जड़े धँसी होती हैं। अतीत वर्तमान की दृष्टि से और वर्तमान अतीत की संचित संस्कृति बोध से बदल जाते हैं। प्रसादजी वर्तमान और इतिहास दोनों को संस्कृति बोध से ही अध्ययन करते हैं। उनके मानस की मूल चिंता है- समकालीन स्वतंत्रता-आंदोलन की राजनीति को सांस्कृतिक गुणों से परिष्कृत करना। राजनीति में भाग

लेने वाला व्यक्ति या नेता तभी राष्ट्र का उद्धार कर सकता है । यदि राजनीतिक आंदोलन की जड़े सांस्कृतिक सम्पदा में धँसी होती है, तो राजनीतिक आंदोलन सम्पूर्ण देश का आंदोलन होता है; संस्कृति के अभाव में राजनीति की बागडोर कुछ लोगों तक ही सीमित रह जाती है। महात्मा गाँधी स्वाधीनता आंदोलन की राजनीति में मनुष्य के मानवीय-संस्कार पर अधिक बल देते हैं । सत्य और अहिंसा भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में तीव्रता लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । सत्य, प्रसाद और गाँधी के समय की वास्तविकता है और अहिंसा उसे प्राप्त करने का साधन । महात्मा गाँधी के बाद भारतीय राजनीति से संस्कृति का लोप हो गया, कभी-कभी आदिवासियों और उनकी संस्कृति से अत्यधिक प्रेम के प्रदर्शन करने के लिए आजाद भारत की राजधानी में उनकी संस्कृति का प्रदर्शन हो जाता है। संस्कृति शिक्षा, धर्म, रहन-सहन, खान-पान, संगीत आदि है । अत: आम जनता की संस्कृति, सच्ची संस्कृति तभी हो सकती है, जब उसकी शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन और उसके खान-पान पर ध्यान दिया जाय और इसमें व्यवस्था या संस्था की भूमिका महत्वपूर्ण होती है ।

सामाजिक-व्यवस्था दूषित हो, तो उसका प्रभाव मनुष्य के आंतर को भी दूषित करता है । प्रसादजी समकालीन गुलाम भारत के मनुष्यों की गुलाम संस्कृतियों से अनभिज्ञ नहीं है, जिन्हें स्वतंत्र करने का रचनात्मक दबाव उनकी साहित्यिक चेतना पर पड़ता है । ऐसी स्थिति में प्रसादजी इतिहास में प्रवेश करते हैं । प्रसादजी बुद्धि, विवेक, संवेग, अनुभूति, कल्पना से युक्त

होकर इतिहास में प्रवेश करते हैं और वहाँ के प्रगतिशील सांस्कृतिक धरोहर से नवीन इतिहास का निर्माण करते हैं । उनकी दृष्टि में मनुष्य संघर्षशील और इतिहास निर्माता है । मनुष्य-जाति इतिहास का निर्माण करती है । उसकी सारी क्रियाशीलता और गौरव इतिहास बन जाते हैं; रचनाओं में इतिहास पसर जाता है । भविष्य इस इतिहास के गौरवगाथा से प्रेरित और समृद्ध होता है । यह प्रेरणा ही संस्कृति है, जो जीवन्त परम्परा में अन्तर्निहित हो जाती है । इसी अर्थ में, प्रसादजी समकालीन जीवन में इतिहास और संस्कृति को महत्व देते हैं; समकालीन जीवन की आवश्यकता है और वे रचना के स्तर भी इन तत्वों को उतना ही महत्वपूर्ण मानते हैं । स्वयं प्रसादजी के शब्दों में -" आज मनुष्य के समीप तो वर्तमान संस्कृति का, क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है, ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगो की रेखाओं से बीती हुई और भी पहली बातों का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है परन्तु कुछ अतिरंजित सा।"[1] यह सामूहिक चेतना का संस्कार ही संस्कृति है जो युगों से परम्परा के माध्यम से वर्तमान तक प्रवहमान है, इतिहास इसी का संघनित नाम है । प्रसादजी इसमें कल्पना का योग आवश्यक समझते हैं । इनके साहित्य में, इतिहास और कल्पना में द्वन्द्वात्मक संबंध है । रचनाकार इतिहास को केवल तथ्यात्मक दृष्टि से नहीं देखता, सचेत तटस्थता के बाद भी साहित्यकार की कलात्मक दृष्टि इतिहास के अध्ययन विवेचन में सहयोग अवश्य देती है ।

---

1. जयशंकर प्रसाद- कामायनी, आमुख से

किसी कारण से जब अतीत और वर्तमान की निरंतरता टूट जाती है तो संस्कृति का लोप हो जाता है संस्कृति के अभाव में या व्यवस्था द्वारा आरोपित असह्य संस्कृति, वर्तमान की विषमता को विकट और भयावह बना देती है और मनुष्य अपनी जातीय चेतना से धीरे-धीरे कट जाता है । युग की विसंगति व्यक्ति की विसंगति हो जाती है। फलतः दुख, पीड़ा, निराशा आदि नकारात्मक मूल्य मनुष्य समाज का हिस्सा हो जाते हैं, इतिहास से संवाद के रास्ते विसंगतिबोध आकर मनुष्य अपनी स्मृतियों से भी पृथक होने लगता है । नियतिवाद मनुष्य का प्रारब्ध हो जाता है लेकिन इस जड़ता को ,जो युग की जड़ता है, महान विचारक, कवि, लेखक या नेता अपनी पैनी दृष्टि से अवलोकन करते हैं और तब इतिहास और वर्तमान की निरन्तरता को स्थापित करने का प्रयास आरम्भ होता है ताकि दोनों के बीच संवाद आरम्भ हो सके वर्तमान,अतीत के गौरवमयी इतिहास से गतिशील हो सके और युग की नियति क्रिया में परिवर्तित हो जाये । इतिहास और वर्तमान के बीच के संवाद को टूटने से लेकर उनके बीच, फिर से, संवाद की कड़ी जोड़ने तक की प्रक्रिया में ही नये युग का निर्माण हो जाता है । यद्यपि यह प्रक्रिया संघर्षों और जोखिमों से भरा होता है । कवि कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह ने कहा है, " इतिहास..... हमसे हमारी बात बोलते हुए अपनी बात भी बोलता जाता है, जिसे कभी हम सुनते हैं और कभी सुनने के लिए तैयार नहीं होते । फिर, हमसे निरन्तर चल रहा उसका संवाद कैसे खास-खास बिन्दुओं पर टूट जाता है,

और उसमें एक रिक्तता पैदा हो जाती है । यह रिक्तता, हमारे लिए, अपने समय के निर्माण में, एक असाधारण स्थिति और समस्या उत्पन्न करती है जो आम आदमी और आम रचनाकार के लिए कोई खास बात नहीं होती, मगर एक संघर्ष धर्मी रचनाकार के जमीर के लिए बहुत बड़ी चुनौती हो जाती है। उस स्थिति में प्रश्न जितना किसी रचना के कलात्मकता और अद्वितीय होने का ही नहीं होता उससे अधिक एक बहुत ही जोउभरे फासले को, क्षत-विक्षत होकर ही सही, तय कर समय के निर्माण में अपना अपेक्षित योगदान करने का होता है और तब वैसी रचना अपनी साधारणतया में भी एक असाधारण चरित्र धारण कर लेती है । "[1] यह सारी रिक्तता, विसंगतियाँ, वास्तव में अपने युग की रूढ़ता के कारण हैं, जिनमें विस्फोट होने की संभावना भी साथ-साथ होती हैं पर कमजोर होती हैं । समय और युग की अनुकूलता में यह रूढ़ियों पर भारी पड़ता है और सारी रूढियां समाप्त हो जाती हैं और तब नवनिर्माण का कार्य सक्रिय हो जाता है । समाज और युग का विकास द्वन्द्वात्मक होता है, एक का निषेध होना अनिवार्य शर्त है, तभी सृजन का पथ प्रशस्त होता है ।

प्रसादणी की दृष्टि अपने समय के अनुकूल है या नहीं, इसके लिए समकालीन समाज का शष्ट्र का अवलोकन आवश्यक है । अंग्रेजी साम्राज्य भारत को अपना उपनिवेश बना रखा है । अंग्रेजी सत्ता, अत्यंत सतर्कता से, व्यापार के माध्यम से, भारतीय जनजीवन पर आधिपत्य जमा लेता है। "क्रूरता और चालाकी ", "फूट डालो और राज्य करो" आदि

---

1. कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह- इतिहास का संवाद, पृ0 9

घृणित कानून से भारत की जनता का शोषण आरम्भ हो जाता है ।किसान की जमीन अंग्रेज छीन लेता है।किसान धीरे-धीरे मजदूर बनने लगताहै । बहुत-से किसान आजीविका हेतु अंग्रेजी सेना में भर्ती हो जाते हैं । अंग्रेजी कानून के कारण,भारतीय सैनिक और अंग्रेजी सैनिक में भेदभाव से इन सैनिकों में असंतोष व्याप्त होता जाता है, साथ ही अपने स्वजनों पर अंग्रेजों के आदेश पर गोली चलाना और मारना उनके अंदर अपराध बोध उत्पन्न करता है। यह अपराध-बोध ही उनके अंदर स्वतंत्रता का बोध पैदा करता है । उचित स्थितियों को पाकर सन् 1857 ई॰ में सैनिक विद्रोह कर देते हैं; विद्रोह सफल नहीं हो पाता; लेकिन सोयी हुई भारतीय जनमानस इस विद्रोह की आग से भड़क उठती है । सम्पूर्ण भारत में स्वतंत्रता के लिए आवाज उठने लगती है। अंग्रेजी शासन व्यवस्था के विरुद्ध नारे और आंदोलन होने लगते हैं । सन् 1857 ई॰ का यह विद्रोह लुप्त भारतीय जातीय-चेतना को जाग्रत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । हिन्दी-प्रदेश में भी स्वतंत्रता की माँग होती है । राष्ट्रीय चेतना हिन्दी प्रदेश की जनता में व्याप्त हो जाती है। 1857 ई॰ से हिन्दी में नवजागरण के आगमन का काल माना जाता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस नवजागरण के अग्रदूत हैं । बंगाल में 1857 ई॰ के सैनिक विद्रोह से चार दशक पूर्व ही नवजागरण का उदय होता है । पूर्व और पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति का टकराव होता है, नवीन सभ्यता और संस्कृति नये ज्ञान विज्ञान के साथ भारतीय मध्यवर्ग को आकर्षित करते हैं । भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में राजाराममोहन राय हैं; जो प्राचीन रूढ़ियों

से लोहा लेने के साथ नूतन संस्कृति और सभ्यता का स्वागत करते हैं । अंग्रेजों द्वारा भारत के औपनिवेशिक शोषण के लिए तैयार गई परिस्थितियों में नये शहरी मध्यवर्ग का नेतृत्व राजाराम मोहन राय करते हैं । ये मध्यवर्ग दो स्तरों पर संघर्षरत हैं अपने समाज की कमजोरियों से संघर्ष के साथ ही स्वतंत्रता के उन विचारों के भी प्रवर्तक हैं जो बाद में अंग्रेजी हुकूमत के विरूद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के लिए आधार रूप में कार्य करते हैं ।

अंधविश्वासों और धार्मिक कुरीतियों के खिलाफ प्राचीन ग्रंथों के प्रयोग, प्राचीन ग्रंथों का बंगला भाषा में अनुवाद करके उसे आम जनता के लिए बोधगम्य बनाना, सती-प्रथा, बाल बिवाह आदि से होकर विभिन्न विषयों पर सिर्फ परम्परा की दुहाई को ठुकराना और मानव-कल्याण की भावना को विचार के केन्द्र में स्थापित करना नवजागरण के उद्देश्य में शामिल है । राजाराम मोहन राय 1823 ई॰ के प्रेस कानून का विरोध करके अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का नारा बुलन्द करते हैं जो आजादी के आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

राजाराम मोहन राय के बाद रामकृष्ण परमहंस, दयानंद सरस्वती रविन्द्रनाथ, विवेकानंद आदि के अतिरिक्त समाचार पत्रों और शिक्षा संस्थाओं का इस नवजागरण की पृष्ठभूमि में भी योगदान है । बंगाल में

नवजागरण का उभार संस्कृति और राजनीति दोनों स्तरों पर होता है।

1857 का सैनिक विद्रोह हिन्दी प्रदेश में नवजागरण लाने का कार्य करता है, यह घटना अत्यंत महत्वपूर्ण है।जर्मन विचारक मार्क्स इस विद्रोह में छिपी आग को पहचान लेते हैं, 14 अगस्त 1857 के "न्यूयार्क ट्रिब्यून" के अंक में लिखते हैं -" शीघ्र ही दूसरे तथ्य प्रकाशित होंगे, जो खुद जानबुल को भी विश्वास दिला देंगे कि जिसे वह फौजी बगावत समझ रहा है वह सचमुच राष्ट्रीय विद्रोह है ।"[1]

राजनीतिक धरातल पर इस नई राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की शुरुआत सन् 1885 में "अखिल भारतीय कांग्रेस" की स्थापना के बाद होने लगती है ।

हिन्दी प्रदेश में व्याप्त धार्मिक अंधविश्वास, सामंती समाज में व्यवस्था में जकड़ा मनुष्य और उससे भी बदतर स्थिति में पड़ी नारी, साहित्य में रीतिकालीन श्रृंगारी भोग-विलास, रूढ़ होती ब्रजभाषा, प्राचीन अनुपयुक्त लक्षण ग्रंथों की रचना आदि ऐसे जड़मूल तत्व उस समय के समाज में रोग की तरह व्याप्त हैं । राजाराम मोहन राय के समान ही भारतेन्दु भी इन सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ सांस्कृतिक स्तर पर डटकर मुकाबला करते हैं । हिन्दी साहित्य के केन्द्र में एक बार फिर मनुष्य और मनुष्यके दुख-सुख आ

---

1. शंभुनाथ - समकालीन सृजन, पृ 15।

जाते हैं । वस्तुत: जनता सामंती-संस्कार से लड़ते हुए आगे बढ़ रही है।

प्रसादजी की इतिहास-दृष्टि इन्हीं हलचलों में विकसित होती है । उन्हें प्रतीत होता है कि अतीत के गौरवमयी घटनाओं को वर्तमान समाज की राजनैतिक - सांस्कृतिक अनुकूलता में उपयोग कर वर्तमान के संकट से मुक्ति मिल सकती है । इस प्रकार उनकी अतीत-दृष्टि का आधार उनकी वर्तमान दृष्टि है । इनका जीवनकाल आधुनिक भारत के दो युगों तक परिव्याप्त है (1) सांस्कृतिक नवजागरण का युग (2) स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक संघर्ष का युग । दोनों युगों में कालक्रमिक और वैचारिक संबंध है । गांधी जी युग-पुरुष हैं, राजनीति, संस्कृति विभिन्न मानवीय तत्वों से युक्त व्यक्तित्व हैं जो अपनी राजनीतिक उद्देश्य की ऊर्जा सांस्कृतिक नवजागरण से प्राप्त करते हैं । प्रसादजी गाँधीजी के समकालीन रचनाकार हैं। प्रसादजी भी स्वयं को सांस्कृतिक युग से अधिक जोड़ते हैं, फलत: राजनीति से उनके संबंध अधिक निकट के नहीं हैं लेकिन समकालीन राजनीति की सक्रियता को परखकर ही सांस्कृतिक स्तर पर क्रियाशील है । नवजागरण प्रसादजी के सामने असंख्य प्रश्नों को ला खड़ा करता है । उदाहरण के लिए परम्परागत् मूल्यों की पुनर्परीक्षा, उनमें समकालीन जीवन के अनुकूल मूल्यों के ग्रहण, पतनशील मूल्यों का त्याग और आज के जीवन को प्रेरित करने वाले मूल्यों की अतीत में खोज आदि । इसका उद्देश्य अंग्रेजी औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति है । अंग्रेजों की पाश्चात्य-संस्कृति भारतीय जीवन को दूर तक प्रभावित करती है

लेकिन अपनी कुछ अच्छाई में भारतीय जनमानस को लाभ भी प्रदान करती है । उदाहरण के लिए प्राविधिक - वैज्ञानिक संस्कृति जो अपने साथ सामाजिक जीवन के रूपांतरण के वैचारिक और भौतिक दोनों तरह के आधार को लेकर भारतीय सामंती समाज में प्रवेश करती है । फलत: व्यापक प्रभाव समाज पर दृष्टिगत होता है।इसके साथ ही, वैज्ञानिक चिंतन और जन तांत्रिक- मानवतावादी विचारधारा का भी प्रवेश होता है जो भारतीय धार्मिक विश्वासों और सामाजिक व्यवहारों से टकराती है । इसके अतिरिक्त इनमें जो बुराई व्याप्त है वह भयानक है - यह अपनी श्रेष्ठता और हमारी हीनता के रूप में हमारी राजनीतिक पराजय लेकर आती है । इसलिए पश्चिमी संस्कृति भारतीय जीवन के प्रत्येक स्तर को छूती है और आत्ममंथन के लिए झकझोरती भी है।यह आत्ममंथन भारतीय मानस को अपने मानसिक दर्शन और व्यवस्था की कमियों पर सोचने के लिए प्रेरित करता है । यह आत्ममंथन प्रसादजीको भारतीय इतिहास और संस्कृति में झाँकने के लिए व्यापक रूप से प्रेरित करता है । प्रसादजी का इतिहास संबंधी अध्ययन यह संकेत करता है कि पूर्वकाल में भी भारत के कई युगों में ऐसे प्रश्न उपस्थित हुए हैं। आज की तरह अतीत में भी परम्पराओं का संघर्ष हुआ है, नयी और पुरानी दृष्टियाँ आपस में टकराये हैं, धार्मिक विश्वासों के कारण मतभेद पैदा हुए हैं और समाज सुधार के प्रयास हुए हैं और समाज परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ा है । अतीत में मनुष्यों ने इन्हें सुलझाने का प्रयास किया है और उन्हें इनमें सफलता मिली है । इस प्रकार यदि भारत देश वर्तमान

में ऐसी समस्याओं का अनुभव कर रहा है तो अतीत इनके निराकरण में ही नहीं, इनके कारणों की पहचान कर सकता है । प्रसाद की दृष्टि में अतीत कोई मृतकालखंड नहीं है, अपितु पूर्वजों के कार्यकलाप का नाम है। इसी अतीत के कार्य कलाप से वर्तमान नि:सृत हुआ है । कुछ नहीं से शून्य का निर्माण होता है, लेकिन कुछ से कुछ तो नि:सृत होता है । इसलिए अतीत और वर्तमान का संबंध कार्य-कारण संबंध ही है । प्रसादजी रागात्मक, भावात्मक कल्पनात्मक मानसिकता से युक्त काल-पुरुष है अत: ऐसे व्यक्ति के लिए अतीत एक जीवन काल है । वे अतीत के उन्हीं युगों और उन्हीं घटनाओं का चुनाव करते हैं जो उनके युग की घटनाओं से मेल खाती है । प्रसादजी का युग संकट-ग्रस्त था, जिसे प्रसादजी अत्यंत आकुलता के साथ अनुभव करते हैं । आकुलता से वर्तमान की दृष्टि से अतीत को देखते हैं, उसकी अर्थवत्ता की खोज करते हैं । जिस लेखक या कलाकार को अपने समय का संकट-बोध जितना गहरा होता है उसकी इतिहास-दृष्टि भी उतनी ही तीक्ष्ण और गहरी होती है, प्रसाद की इतिहास-दृष्टि गहरी, तीक्ष्ण और व्यापक है, जिसमें अपने समय के हलचल से लेकर अतीत के हलचल तक अन्तर्निहित हैं और इसीलिए प्रसादजी ने बड़ी-बड़ी और महान कृतियां संसार को दे पायें हैं ।

अत: प्रसाद अपने समय के व्यापक हलचल से प्रभावित हैं । अतीत की संस्कृति, साहित्य, घटनाक्रम उन्हें वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने में

सहायता प्रदान करते हैं । 1910 से 1936 के बीच फैली उनकी लेखन प्रतिभा युग के यथार्थ से साक्षात्कार करती है और उसकी अभिव्यक्ति कविता, उपन्यास, नाटक, निबंध और कहानी में होती है ।

प्रसादजी के सामने दो प्रकार की समस्याएँ चुनौती के रूप में खड़ी होती हैं, पहला भारतीय जनता की परतंत्रता, जिसमें पाश्चात्य संस्कृति की श्रेष्ठता और हमारी हीनता दृष्टिगत होती है, और दूसरा भारतीय समाज की सामंती व्यवस्था के कारण कुत्सित संस्कृति, नारी की दारूण स्थिति, वेश्यावृत्ति, विधवा-विवाह की समस्या, वर्णाश्रम व्यवस्था की कठोरता, धर्म का पाखंडपन और राजनीति के लिए धर्म का दुरूपयोग आदि । दोनों समस्याओं से प्रसादजी जूझते हैं । दोनों समस्याओं के निदान के लिए अतीत में जाते हैं और जिसमें संस्कृति की भूमिका प्रधान होती है। नेहरू जी और प्रसादजी दोनों के लिए अतीत का ज्ञान आवश्यक है एक "भारत की खोज" में व्यग्र है, तो दूसरा भारत की अस्मिता ढूँढ़ने में व्याकुल ।

प्रसादजीअपनी रचनाओं में विशेषकर उपन्यासों और नाटकों में स्पष्ट और मुखर रूप में अपने समय के लोक-यथार्थ की अभिव्यक्ति कर पाने में सफल हुए हैं । कहानियों में उनकी कविदृष्टि हावी हो जाती है, जिससे कहानियाँ अभिधा में न खुलकर कभी लक्षणा में तो कभी व्यंजना में अर्थ को सम्प्रेषित करती हैं तथा उनकी प्राय: सारी कहानियाँ अपने लोक के यथार्थ

को अभिव्यक्त करती हैं, इसमें संदेह नहीं । उनके लोक का यथार्थ सामाजिक-सांस्कृतिक-प्रक्रिया के द्वन्द्वात्मकता में ही स्पष्ट हो पाता है जो अपने इतिहासबोध के साथ सच के उद्घाटन में सहायक है । उनकी कहानियों का यथार्थ अतिसूक्ष्म है, जो रचना-प्रक्रिया के तंतुओं में व्याप्त है । समकालीन यथार्थ कहानी की सम्पूर्ण प्रक्रिया में कहीं भी उपलब्ध हो सकता है वस्तुत: जीवन का एक छोटा सा अंश भी जीवन की सम्पूर्णता को साकार कर देता है।

प्रसादजी की सम्पूर्ण रचनाओं के मूल में वेदना और आंतरिकता के स्पर्श से पुलकित नवीन भावना विद्यमान है । यही प्रसाद की चेतना है । 1906 ई॰ में "द्वन्द्व" पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ करते हुए उसके प्रथम अंक की भूमिका में कहते हैं -" जातीय उन्नति के लिए साहित्य की उन्नति की आवश्यकता होती है ।"[1] यह वाक्य "जातीय उन्नति" के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना, जनसाधारण की अभिव्यक्ति करता है जिसका उत्तर-दायित्व साहित्य पर है । यही कारण है कि "द्वन्द्व" पत्रिका तत्कालीन राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय हलचलों से समाज को जानकारी देने वाली पत्रिका हो गई थी । प्रसादजी ने लिखा है " संसार में जितनी भी हलचल हैं, आंदोलन हैं, वे सब मानवता की प्रकार है । "[2] प्रसादजी संसार की हलचलें और आंदोलनों की रोशनी में अपने समय के समाज को मानवता की वाणी प्रदान करते हैं । प्रसादजी गाँधीजी के त्यागमयी लोकसेवा और राष्ट्रीय चेतना की भावना से अभिभूत प्रतीत होते हैं; यद्यपि अहिंसा की

1॰ रत्नशंकर प्रसाद - प्रसाद ग्रंथावली, पृ0 43
2॰ वही - मधुमती (पत्रिका) पृ0 6

की सीमा कई बार निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति में टूटती है; तब लगता है कि प्रसादजी गाँधी जी से असहमत हैं लेकिन प्रसाद का युग अपनी सारी हलचलों में गाँधी की विचारधारा से बहुत गहरे तक प्रभावित है, जिसका वरण प्रसादजी भी करते हैं । प्रसादजी का एक कहानी संकलन " आँधी" है जो 1931 में प्रकाशित हुई थी । इस संकलन की एक कहानी "व्रतभंग" की निम्न पंक्तियाँ उस युग का आदर्श प्रस्तुत करती हैं -" कपिजल ! आज तो हम और तुम दोनों बराबर हैं और इतने अधमरों के प्राणों का दायित्व भी हमीं लोगों पर है । यह व्रत-भंग नहीं, व्रत का आरम्भ है । चलो, इस दरिद्र कुटुम्ब के लिए अन्न जुटाना होगा ।"[6] 1931ई॰का जमाना गाँधी का जमाना है, गाँधी अपनी राजनीतिक पराकाष्ठा पर भारत की मुक्ति का व्रत ले रखे हैं और भारतीय जनता को प्रेरित करते हैं । अत: प्रसादजी राष्ट्रीय आंदोलन को अपनी रचनात्मकता से ऊर्जा प्रदान करते हैं । प्रेमचंद सीधे गाँधी से बात करते हुए अपनी रचना में गहरे उतरते हैं, जबकि प्रसादजी अतीत से ऊर्जा, शक्ति बटोरकर समसामयिकता की हलचलों से उसे संबद्ध करके रचना में उतरते हैं और कभी-कभी तो इतने गहरे उतरते हैं कि प्रेमचंद की रचनात्मकता, शायद ही वहाँ तक जाती है ।

प्रसादजी की कहानियों में राष्ट्रीय आंदोलन की आकुलता-व्याकुलता, स्वतंत्र होने की, बंधनों से छूटने की, मुक्त होने की इच्छा विद्यमान हैं । प्रसादजी के यहाँ प्रेमतत्व मन की मुक्ति की ओर संकेत करता है, जो कालक्रम से मुक्ति-कामना स्वतंत्र होने की उद्घोषणा है । प्रसाद का प्रथम-कहानी

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0236

-संकलन में "तानसेन" ऐसी ही कहानी है जो अपनी व्यक्तिगत् स्वतंत्रता की माँग से देश की स्वतंत्रता की माँग करती है । "तानसेन" नारी पात्र "सौसन" कहती है-" बेगम साहिबा यदि कुछ मुझे देना चाहें तो अपने दासीपन से मुझे मुक्त कर दें ।"[1] दासत्व से मुक्ति वस्तुत: देश की दासता की ओर संकेत है, जहाँ मुक्ति की एक छटपटाहट है । "तानसेन" शीर्षक कहानी से यह स्पष्ट है कि कहानी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रची गई है । राजा और दरबार और उसमें तानसेन वस्तुत: सामंती-व्यवस्था का साक्षात्कार होता है । अंग्रेजी साम्राज्य के आने से इस व्यवस्था के अस्तित्व में बने रहने की सारी ऐतिहासिक सामग्रियाँ पूँजीवाद के विकास के आधारभूत तत्वों से टकराते हैं, फलत: उस व्यवस्था से मुक्ति ही सामाजिक विकास-प्रक्रिया को गति प्रदान कर सकती है । अत: सौसन की मुक्ति की मुराद में दासत्व, सामंती-व्यवस्था और देश की परतंत्रता से मुक्ति शामिल है । "सिकन्दर का शपथ " और "चित्तौड़ का उद्धार" कहानी में स्वतंत्रता की चेतना का प्रसार है जिसमें सिकन्दर का छल और हम्मीर का शौर्य पराधीनता से मुक्ति की प्रेरणा हमें प्रेषित करता है । "सिकन्दर का शपथ" कहानी में प्रसाद लिखते हैं -"इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने प्राण-पण से युद्ध किया और जब तक उनमें से एक भी बचा, बराबर लड़ता गया । क्यों न हो, जब उनकी प्यारी स्त्रियाँ उन्हें अस्त्रहीन देखकर तलवार देती थीं और हँसती हुई अपने प्यारे पतियों की युद्ध क्रिया देखती थीं । रणचंडिया भी अकर्मण्य न रहीं, जीवन देकर आपना धर्म रखा ।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 12

ग्रीको की तलवारों ने उनके बच्चों को रोने न दिया, क्योंकि पिशाच सैनिकों के हाथ सभी मारे गए।"[1] प्रसादजी इसके माध्यम से अंग्रेजों के छल-छद्म और कूटनीति के संदर्भ में भारतीय वीरों के शौर्यपूर्ण बलिदान की ओर संकेत करते हैं ।

"गुलाम" कहानी का कादिर अपनी स्वतंत्रता के लिए हिंसा और प्रतिशोध की भावना को कार्यरूप प्रदान करता है और शाहआलम की जो आँखे कादिर को हमेशा अपनी सीमा के अंदर रखती है; कादिर एक दिन उन्हीं आँखों को कटार से निकाल लेता है और गुलाम कादिर आजाद कादिर हो जाता है । प्रसाद, वस्तुत: स्वतंत्रता आंदोलन में नरम दल और गरम दल की गतिविधियों को देखते हैं । गरमदल हिंसा, प्रतिशोध और विस्फोट का मार्ग अपनाता है जबकि नरमदल प्रेम, अहिंसा, त्याग, व्रत, सत्याग्रह आदि के मार्गों को अपनाता है । "गुलाम" प्रतीकात्मक रूप से स्वतंत्रता आंदोलन के गरमदल की कहानी है । " आकाशदीप" के माध्यम से प्रसाद जी कहते हैं- "मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो।"[2] स्वतंत्रता की आकांक्षा को और भी सघन करता है । "गुंडा" कहानी वस्तुत: राष्ट्र प्रेम का उदात्त और आदर्श रूप प्रस्तुत करती है । तत्कालीन बनारस का गुंडा -" नन्हकू सिंह" राजा चैतसिंह को अंग्रेजों से अपनी जान को खतरे में डालकर बचाता है, अंत में गुंडा मर जाता है । प्रस्तुत पंक्तियाँ कहानी के घटना-व्यापार और चरित्र विकास

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, 35
2. वही वही पृ0 110

को मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान करती है -" चेत सिंह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनों में वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है । नन्हकू के चट्टान सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है । गुंडे का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था ।" [1] ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्वतंत्रता की उत्कट इच्छा के रूप में अभिव्यक्त हुई है ।

प्रसादजी की "पुरस्कार" देशप्रेम की अनोखी कहानी है। व्यक्तिगत प्रेम और देशप्रेम में देशप्रेम बड़ा है । मधुलिका प्रेमी का निर्बंध राष्ट्रीयता में और अपना निर्बंध प्रेमी के लिए करती है ।

प्रसादजी की कहानियों में स्वतंत्रता की उत्कट इच्छा कई रूपों में व्यक्त हुई है । विदेश में स्वदेश की याद भी देश प्रेम ही है । "आकाशदीप" में बुद्धगुप्त चंपा से कहता है-" चम्पा, हम लोग जन्मभूमि भारतवर्ष से कितनी दूर हैं। स्मरण होता है वह दार्शनिको का देश । वह महिमा की प्रतिमा ।" [2] प्रसादजी को अपना देश बहुत प्यारा है, इसीलिए वे बार-बार बुद्धगुप्त से कहलवाते हैं -" महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिंधु लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देगी ।" [3] "जीरा" कहानी का वृद्ध यह स्वीकार करता है कि वह विदेश में भारत को कभी नहीं भूला।

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0324
2. वही वही पृ0113
3. वही वही पृ0114

"मदन-मृणालिनी" में सिंहलद्वीप में मदन अपनी सारी संपत्ति मृणालिनी को दे देता है और वह भारत लौट आता है, यद्यपि वह मृणालिनी से दूर भागता है लेकिन भागकर आता है - भारत - यह भारत प्रेम ही है। "नूरी" कहानी में याकूब कश्मीर को स्वतंत्र करने का स्वप्न देखता है, यातनाएँ सहता है लेकिन प्रकाशन्तर से वह भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के सिपाहियों को प्रेरणा प्रदान करता है । "दासी" भी देशप्रेम की कहानी है, जिसका उद्देश्य आततायी शासकों से त्राण पाना और त्राण दिलाना है। "सिकन्दर की शपथ","चित्तौर-उद्धार", गुलाम, गुंडा, दासी आदि ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें हिंसा और संघर्ष के माध्यम से स्वाधीनता का चित्र खींचा गया है । प्रसाद की बहुत सी ऐसी कहानियाँ हैं जो राष्ट्रीय आंदोलन को गति प्रदान करते हैं जिसमें सामाजिक सुधार का आन्दोलन दृष्टिगत होता है । ताकि स्वाधीन भारत में राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ व्यक्ति को स्वस्थ समाज मिले । तत्कालीन भारत में इस तरह का प्रयास खूब हुआ है । लेकिन आजाद भारत में इस तरह का प्रयास नहीं हो पाया है। फलत: आज की राजनीति भ्रष्टाचार के समन्दर में आकंठ डूबी हुई है पर प्रसाद कालीन भारत में यह प्रयास समाज के हर क्षेत्रों में दृष्टिगत होता है । नारी और पुरूष प्रकृति और समाज के दो ऐसे अनिवार्य तत्व हैं जिनसे सृष्टि का आरम्भ होता है । एक की अनुपस्थिति समाज में अराजक स्थिति उत्पन्न कर देती है । यह अनुपस्थिति समाज में नर-नारी के भाग लेने की भूमिका से भी मतलब रखती है । भारतीय समाज में आज भी नारी की हालत नर्कमय है, प्रसाद अपने समय में भी नारी की हालत को देखकर सामाजिक विकास के पिछड़ेपन के कारण को समझ सके,

इसलिए प्रसादजी के साहित्य में विशेषकर गद्य साहित्य में नारी का चरित्र उदात्त है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी नारी के हितों के महान पक्षधर हैं । प्रसादजी नारी को कल्पना, श्रद्धा, त्यागमयी के साथ-साथ क्रांतिकारिनी रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। गाँधीवाद की सीमा को कई जगह प्रसादजी तोड़कर आगे बढ़ते हैं क्योंकि गाँधी जी की दृष्टि में नारी नम्रता, त्याग, श्रद्धा की देवी है । नारी समाज में पुरूष की अपेक्षा दोयमस्तर का नागरिक बनकर क्यों रहे- प्रसादजी इस तरह के सामाजिक सांस्कृतिक समझौते को पुरूष-समाज का नारी के प्रति षड्यंत्र समझते हैं । यह परम्परा प्रदत्त-संस्कार नारी गुलामी की बेड़ी है । प्रसादजी तत्कालीन समाज की इस दारूण स्थिति का समाधान पाश्चात्य समाज के नारी मुक्ति आंदोलन की विचारधारा प्रस्तुत करके नहीं करते हैं बल्कि इतिहास में ऐसे समाधान हैं । अत: उससे वर्तमान की समस्या का समाधान भी सम्भव है । नारी की पहचान हो, बहुत ही आकुलता से प्रसादजी "ध्रुवस्वामिनी" से कहलवाते हैं --" आज यह निर्णय हो जाना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? " [1] नारी अपनी पहचान के लिए कितना व्याकुल है । यह व्याकुलता समाज में नारी की दयनीय स्थिति की ओर संकेत करती है नारी समाज की सामंतीय रूचि से मुक्त होकर पुरूष के समानान्तर यात्रा करने की पक्षधर है। वस्तुत: समकालीन समाज में प्रसादजी अपने नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में इसी लोकयथार्थ की स्थापना की ओर अग्रसर हैं, तभी भारत की स्वतंत्रता-संग्राम को गति मिलेगी और तभी देश की स्वतंत्रता

---

1. शम्भुनाथ - समकालीन सृजन, पृ0 355

अक्षुण्ण रह पाएगी । प्रसाद जी 'सालवती,' 'देवदासी,' 'देवरथ,' 'भिखारिन' आदि कहानियों से नारी मुक्ति की उद्घोषणा प्रकारांतर से देश की दासता से मुक्ति की उद्घोषणा करते हैं । समकालीन सामंती समाज में नारी घर या बाहर दोनों जगह भोग की वस्तु बनी हुई है । घर के अन्दर सामाजिक मर्यादा के कारण वह कुलवधू है और बाहर नगरबधू, वेश्या या कोठेवाली । "देवदासी" कहानी कई स्तरों पर खोखली समाज पर चोट करती है । हिन्दू धर्म वस्तुत: जातिगत धर्म है जिसका प्रचार-प्रसार, नियमन सभी मंदिर की कठोर व्यवस्था में होते हैं । भारतीय समाज अधिकांशत: हिन्दू समाज है जहाँ यह कठोर जातिगत व्यवस्था विद्यमान है, इस कठोर व्यवस्था में जाति से शूद्र और नारी का स्थान कहीं नहीं है । वे केवल उच्च जाति के लोगों के शोषण-दोहन की अंतहीन श्रृंखला को झेलने के लिए अभिशप्त हैं, इनकी इस दासत्व श्रृंखला से मुक्ति की बेचैनी हिन्दू धर्म अर्थात मंदिर व्यवस्था को असह्य है । धर्म की ओट में, मंदिर में स्थापित प्रस्तर देव प्रतिमा के सामने हिन्दू धर्म के मठाधीशों का विलासी जीवन - औरत के शोषण का अंतहीन श्रृंखला आरम्भ करता है, वह मंदिर में वेश्या मात्र है लेकिन समाज में वह देवदासी है । वेश्यावृत्ति का यह पवित्रिकरण हिन्दू समाज के लिए निर्लज्जता का विषय है । " देवदासी " कहानी का दर्द इस समय और भी तीखा हो जाता है जब प्रेमी उसका उत्तर भारतीय प्रेमी अशोक उसे प्राप्त कर सकने में असफल हो जाता है, यद्यपि वह उसको भोग के स्तर पर प्रेम करने वाला प्रेमी रामास्वामी से संघर्ष करता है औरअंत में अशोक उसकी हत्या

भी कर देता है लेकिन मंदिर-व्यवस्था के राष्ट्र में ही देवदासी पड़ी रहती है जिस राष्ट्र में अनाचार, अत्याचार अन्तर्व्याप्त है । भारत की मुक्ति ऐसे हजारों लाखों देवदासियों की मुक्तियों में निहित है । इन देवदासियों की तरह ही नगर-बधुओं की कथा भी त्रासदी से भरी है । पुरूष वर्ग ने स्त्रियों को देह बेचने के लिए बाध्य ही नहीं किया है, बल्कि इसे व्यवसाय रूप में चुनने के बहाने कई नये तरीके भी खोज निकाले हैं । प्रसादजी का सामंती समाज है, उस समय नगरवधू के नाम पर सुंदरियों का चयन करके उनके साथ देह रंजन करना सामंती और धनाढ्यों का कुलीन कौशल है । प्रसादजी की कहानी "सालवती" इसी तरह की समस्या से आक्रांत है; प्रसाद जी भी आक्रांत हैं क्योंकि सम्पूर्ण नारी जाति की पहचान आक्रांत है । सालवती आर्यमित्र की सुकन्या है, उसकी सुंदरता अद्वितीय है, अनंग-पूजा के अवसर पर वह वैशाली राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी के रूप में चयन कर ली जाती है और उसकी रात और देह दोनों राष्ट्र द्वारा तय सौ स्वर्ण मुद्राएं में बिकती रहती है, कुलबधू बनने की इच्छा भी मर जाती है । वैशाली राष्ट्र के दुर्दिन जब आते हैं, सेनापति मणिधर युद्ध में मारे जाते हैं, तो नागरिक राष्ट्र की इस दशा के लिए नगरबधू सालवती पर अभियोग लगाते हैं -" इसी के संसर्गदोष से सेनापति मणिधर की पराजय हुई ।..... यह मणिधर की काल भुजंगिनी है । यह वैशाली का अभिशाप है । यह विचार स्वातन्त्र्य के समुद्र का हलाहल है । "[1] पुरूष, सामंत जिसने राष्ट्र के द्वारा

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0

नगर की सुन्दर यौवना के उपभोग के लिए नियम बनाए, सर्वथा दोष-मुक्त है । पुरूष-प्रधान समाज में नारियों का शोषण बहुस्तरीय होते हैं जिसमें नारी ही सर्वथा दोषी होती है । प्रसादजी और प्रेमचंद दोनों करीब से इस महापाप को बनारस में देखते हैं । और इसीलिए दोनों ने अपनी रचनाओं में वेश्या समस्या को विषय भी बनाया है । कुलवधू के वेश्या बनने की प्रक्रिया का चित्रण प्रेमचंद जी ने किया है तो प्रसादजी ने वेश्या से कुलवधू बनने की प्रक्रिया का चित्रण किया है । प्रसाद की सालवती अंतत: प्रतिज्ञा करती है -" आज से कोई स्त्री वैशाली राष्ट्र में वेश्या न होगी ।"[1] प्रसादकालीन भारत में वेश्या के उद्धार की खूब चर्चा हुई है और प्रसाद इस कहानी में बड़ी कुशलता से इसका निर्वाह करते हैं । आठ युवा कुलपुत्र आठ वेश्याओं से शादी करते हैं और सालवती भी अपने अयाचित पुत्र के साथ अभय की पत्नी बन जाती है । प्रसादजी ने इतिहास के वैशाली राष्ट्र से वर्तमान की समस्या का समाधान अत्यंत कलात्मकता के साथ किया है और तत्कालीन समाज के युवकों को इस समस्या के निराकरण करने की ओर संकेत किया है । प्रसाद की दूसरी कहानी "चूड़ावली" भी ऐसी ही कहानी है जिसमें वेश्या पारिवारिक जीवन की सीमा में आबद्ध होना चाहती है और अंतत: उसे सफलता भी मिलती है।

भारतीय परम्परा में मनुष्य को आश्रय प्रदान करना मानवता है जो लोकसेवा के भाव से प्रेरित है और प्रसादजी के युग की मुख्य विशेषता

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0

भी है । प्रसाद जी की कहानी " शरणागत" 1857 के सिपाही विद्रोह की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है जिसमें एक हिन्दू जमींदार किशोर सिंह अंग्रेज पति-पत्नी विल्फर्ड और एलिस को शरण देता है जो सिपाही विद्रोह से भयभीत है और भागकर किशोर सिंह की शरण में आते हैं । गदर के शांत होने पर किशोर सिंह के आतिथ्य से प्रभावित होकर एलिस पूरी तरह भारतीय परिधान पहनकर पालकी में विदा होती है । वस्तुत: यह शरण-वत्सलता में अपनी परम्परा का निर्वाह है यद्यपि किशोर सिंह खतरा भी उठाते हैं । ऐसी ही शरणवत्सलता का उदाहरण "ममता" "वैरागी" चूड़ीवाली, धीसू, मधुआ आदि - आदि कहानियों में दृष्टिगत है जिसमें परम्परा का निर्वाह है, जो मानवीय संवेदना की ओर संकेत करते हैं । समकालीन समाज में मानवीय संवेदना शेष है, इसका प्रमाण प्रसाद जी देते हैं । मनुष्य का संकट, दुख, मनुष्य के अंदर उसके प्रति सहानुभूति व संवेदना पैदा करते हैं , फलस्वरूप मनुष्य परसेवा के लिए आगे बढ़ता है । प्रसादजी के युग में सामाजिक सेवा स्वाधीनता प्राप्ति की दिशा में मनुष्य को समाज , राष्ट्र से जोड़ता है और राष्ट्रसेवा की नि:स्वार्थ भावना का जन्म होता है । प्रसादजी के युग में राष्ट्र के प्रति ऐसी सेवा बेशुमार दिखाई पड़ते हैं, जो युग के अनुकूल है । शरणवत्सलता भी लोकसेवा की अभिव्यक्ति है । इसीलिए प्रेमचंदजी और प्रसादजी दोनों को यह विषय प्रिय है । "आकाशदीप" कहानी की चम्पा कहती है -".... मुझे, छोड़ दो इननिरीह भोले-भाले प्राणियों के दु:ख की सहानुभूति और सेवा के लिए " चूड़ीवाली"

का यह कथन .." मैं और धर्म नहीं जानती..... जो कुछ मुझे मिला, उसे मैं लोकसेवा में लगाती हूँ ।"[1] "व्रतभंग" कहानी का यह वाक्य "चलो इस दरिद्र कुटुम्ब के लिए अन्न जुटाना होगा ।"[2] " पाप की पराजय" कहानी का यह कथन"... रानी के प्रबन्ध में घनश्याम ने वहीं पर अकाल पीड़ितों की सेवा आरम्भ कर दी ।"[3] आदि कहानियाँ लोकसेवा के उस मूलभाव को व्यंजित करती है जिससे एक का अनेक में रूपांतर होता है ।

अंग्रेजी साम्राज्य से टक्कर सामान्य बात नहीं है उसके लिए व्यक्ति के अंदर स्वाभिमान का होना आवश्यक है, जो चरित्र की दृढ़ता के लिए आवश्यक तत्व है । " गुदड़ी में लाल","बनजारा","भिखाड़िन" आदि ऐसी कहानियाँ हैं जिनसे स्वाभिमान से उत्पन्न आत्मनिर्भरता का एक सबक दे जाती हैं । " गुदड़ी में लाल " की यह पंक्ति-" मैं बिना किसी काम के किये इसका पैसा कैसे लूँगी । क्या यह भीख नहीं है । " "बनजारा" की यह पंक्ति " मैं नही चाहती कि किसी को लादने के लिए मैं बोझ इकट्ठा करूँ, नन्दू।" [4]

प्रसादजी धर्म के प्रति आक्रामक दृष्टि रखते हैं । तथाकथित धर्म जो समाज की सारी क्रियाशीलता की नियामक शक्ति है, जिसने मनुष्य

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 163
2. वही वही पृ0 236
3. वही वही पृ0 85
4. वही वही पृ0 22

को मनुष्य से अलग कर दिया है, जिसके माध्यम से पापाचार, अनाचार और अन्याय भी अबाधगति से समाज में घटित हो रहे हैं और मनुष्य उन्हें धार्मिक नियम और ईश्वर का फल मानकर स्वीकार कर रहे हैं तब प्रसादजी की मानवतावादी दृष्टि आक्रामक हो उठती है और प्रसाद धर्म और ईश्वर को छलनी कर देते हैं । प्रसाद की लेखनी समाज में धर्म के विभिन्न रूपों को जगह -जगह उद्घाटित करते हैं । वे प्रेमचंद से अधिक वास्तविक यहाँ दीखते हैं । कबीर की तरह प्रसादजी भी किसी भी सम्प्रदाय की गलतियों पर प्रहार करते से हिचकिचाते नहीं । कट्टर धार्मिक तिल-मिला उठता है । प्रसादजी अपने समय की धार्मिक विद्रूपता से धार्मिक जनता को अपनी कहानियों के माध्यम से जाग्रत करने का प्रयास करते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति समकालीन जीवन का महान उद्देश्य है । धर्म समाज से लेकर राष्ट्र की राजनीति को प्रभावित करता है । व्यक्तिगत जीवन से लेकर राष्ट्र के जीवन में कुत्सित धर्म पर प्रसादजी प्रहार करते हैं। सम-कालीन समाज में प्रसाद का धर्म के प्रति व्यापक क्रोध "सालवती","देवरथ", "देवदासी", "विजया","विरामचिन्ह", "गुदड़ी में लाल"," पाप की पराजय" "गुदड़ साई" आदि कहानियों में दृष्टिगत् होता है।प्रसादजी इन कहानियों के माध्यम से धर्म की चूलें हिला देते हैं । "गुदड़ी में लाल" की इन पंक्तियों ने अपने युग के हालातों से ईश्वर को भी छलनी कर दिया है -" इस अनन्त ज्वालामयी सृष्टि के कर्ता। क्या तुम्हीं करूणानिधान हो? .... क्या इसी डर से तुम्हारा अस्तित्व माना जाता है? अभाव, आशा, असंतोष

और आर्तनादों के आचार्य । क्या तुम्हीं दीनानाथ हो? तुम्ही ने वेदना का विषम जाल फैलाया है ? तुम्ही ने निष्ठुर दुःखों को सहने के लिए मानव-हृदय सा कोमल पदार्थ चुना है और उसे विचारने के लिए, स्मरण करने के लिए दिया है अनुभवशील मस्तिष्क? कैसी कठोर कल्पना है, निष्ठुर! तुम्हारी कठोर करूणा की जय हो । मैं चिर पराजित हूँ ।"[1] ईश्वर के प्रति व्यंग्य है, ईश्वर की कठोर कल्पना और निष्ठुरता पर बुढ़िया व्यंग्य करती है । जीवनभर उसी धर्म और ईश्वर के प्रति आस्था रखने वाली बुढ़िया अपने जीवन की अंतिम घड़ी में ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह करती है, लेकिन धर्म के प्रति यह आस्था इतनी कठोर है कि वह उससे अंततः मुक्त नहीं हो पाती है क्योंकि धर्म गरीब जनता की आह है। डा॰ नामवर सिंह इसी स्थापना को पुष्ट मार्क्स के उद्धरण से करते हैं - " धार्मिक पीड़ा एक साथ ही वास्तविक पीड़ा की वास्तविक अभिव्यक्ति और वास्तविक पीड़ा के विरूद्ध विद्रोह भी है । धर्म दबाये गये जीवों की आह है, हृदयहीन संसार की भावना है और आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है।"[2] .....वास्तविक पीड़ा धार्मिक पीड़ा का रूप क्यों ले लेती है इस भ्रम पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है कि धर्म, सचमुच ऐसे मनुष्य की आत्म चेतना और आत्म कल्पना है जिसने या तो अपनी अस्मिता प्राप्त ही नहीं की या फिर उसे खो दिया ।"[3] "गुदड़ी का लाल" की बुढ़िया, "विराम चिन्ह" की बुढ़िया की वास्तविक पीड़ा है जो धार्मिक पीड़ा है । "गुदड़ी का लाल" की बुढ़िया विद्रोह नहीं कर

1॰ जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 77
2॰ डा॰ नामवर सिंह- इतिहास और आलोचना, पृ0 64
3॰ वही वही वही

थाती और "विराम-चिन्ह" की बुद्धिया विद्रोह को उअपने संस्कार की सीमा से अतिक्रमण नहीं करने देती, इसीलिए उसका धार्मिक-विद्रोह धर्म के खिलाफ एक विराम-चिन्ह बनकर रह जाता है । यह प्रसादजी के युग की सीमा भी है । प्रसादजी की दृष्टि "देवरथ" में सुजाता के माध्यम से धर्म के स्थापित मूल्यों के विरूद्ध जाती है तो "सालवती" में तो अनंग-पूजा वस्तुत: धार्मिक भ्रष्टाचार को ही पैदा करता है जिसमें वैशाली का राष्ट्र गौरव डूबने लगा है । प्रसादजी यहाँ "सालवती " की नारी की गौरवमयी अस्मिता से युक्त कर देते हैं और इसीलिए उसी "अनंग-पूजा" के अवसर पर वह राष्ट्र की नगरबधू परम्परा की समाप्ति की घोषणा भी करती है । इसी तरह की विरोधी चेतना "देवरथ" की सुजाता में भी है जो "अंधकार सी भीषण मूर्ति, संघीस्थवर को आवेश में उत्तर देती है - "चुप रहो असत्यवादी । वज्रयानी नर पिशाच• • • ।"[1] तत्कालीन धर्म की यही स्थिति है । प्रसाद ऐसे नराधम धर्म की वकालत कर नहीं सकते, इसीलिए उन्होंने अपने युग के लेखकों,राजनेताओं से भी अधिक धर्म पर प्रहार करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में कथाकथित धर्म तत्कालीन समाज के उद्देश्य को प्राप्त करने में बाधक है । नाटको, उपन्यासों और कहानियों में धर्म के विरूद्ध उनके दृष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे नास्तिक है या संभव है उनकी विद्रूपता से धर्म के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ हो । कहानीकार जैनेन्द्र ने उनके विषय में लिखा है-" .....मेरे भाव में वह पहले बड़े नास्तिक लेखक हैं । प्रेमचंद मूल में नास्तिक नहीं थे ।

1• जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 329

उनकी नास्तिकता ईश्वर के आस-पास चुक जाती थी । वैसे वह विश्वासी थे और बेहद मजबूती के साथ । आखिर की ओर वह कुछ हिले लगते हैं । पर तब तक वह तिरोहित ही लगते हैं । लेकिन प्रसाद ने मस्तक नहीं झुकाया। हर मत-मान्यता, सामाजिक हो कि नैतिक, धार्मिक हो कि राजकीय उन्होंने प्रश्नवाचक के साथ लिया । किसी को अंतिम नहीं माना । "कंकाल" इसी से कितना भयंकर हो उठा है मानो काया कमनीयता पर रीझने को तैयार नहीं है । "[1] बुढ़िया, सुजाता, सालवती उपन्यासों, नाटकों तथा कहानियों के माध्यमों से हिन्दू और बौद्ध धर्म की क्रूरता का डटकर मुकाबला प्रसाद करते हैं । प्रसाद न हिन्दूवादी हैं और न मुसलमान विरोधी और न वे आर्यसमाजी हैं । सच तो यह है कि अच्छी बातों की प्रशंसा और बुरी बातों का विरोध समानरूप से करते हैं । किसी प्रकार का आतंक उन्हें अपनी परिसीमा में लपेटकर परेशान नहीं करता, इसके विपरीत प्रसाद समाज में धर्म की उस भूमिका से परेशान होते हैं और मानवता की खातिर इस धर्म के विरुद्ध जाते हैं । प्रसादकालीन समाज समाज से आज तक धर्म की सत्ता इन्हीं भ्रष्ट महाधीशों के हाथ में रही है, जिसे राजसत्ता का समर्थन परोक्ष-अपरोक्ष ढंग से मिलता रहा है; आज तो देश की एक विशेष राजनीति मंदिर-मस्जिद के बहाने जनता की धार्मिक भावना को उभारकर मुसलमानों के विरुद्ध करने की निरन्तर कोशिश में लगी हुई है, उद्देश्य स्पष्ट है -- धर्म जो मार्क्स के अनुसार , गरीब जनता की आह है, भारत

---

1. शम्भुनाथ - समकालीन सृजन, पृ0 26

की अधिकांश निरक्षर जनता इस तथाकथित धार्मिक भावना से प्रभावित होकर इस विशिष्ट सांप्रदायिक राजनीति को दिल्ली की गद्दी पर लाकर बैठा दे । इस साम्प्रदायिक राजनीति का भयानक चेहरा "मालवती" कहानी का सेनापति मणिधर की राजनीति से कितना साम्य है? "देवरथ" कहानी का महास्थविर की क्रूर धार्मिक-राजनीति आज की इस राजनीति की धुरी है । ऐसा लगता है कि प्रसाद अपने समय में राजनीति के लिए धर्म का उपयोग का विरोध अपनी रचनाओं में चित्रित करने के माध्यम से तत्कालीन प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष नेताओं को इस तरह के धर्म के प्रयोग के विरूद्ध जाने के लिए प्रेरित करते हैं । लेकिन गुलाम भारत में भी धर्म के इस भयानक रूप, जो बीजरूप में तत्कालीन राजनीति की जमीन में मौजूद है, के विरूद्ध नेताओं ने उचित ढंग से ध्यान नहीं दिया । परिणाम स्वरूप आज की पीढ़ी भुगत रही है । प्रसादजी आज भी उतना ही प्रासंगिक हैं जितना वे तत्कालीन समाज में हैं ।

"गुंडा" कहानी में प्रसादजी गुंडा नन्हकू सिंह के द्वारा उस मौलवी पर प्रहार करते हैं जो अंग्रेजों का साथ देता है । स्वाधीनता आन्दोलन की दिशा में बढ़ रहे मनुष्य के कदम के पथ पर कोई भी प्रतिगामी शक्ति क्यों न आए, प्रसादजी उस पर प्रहार अवश्य करते हैं । प्रसाद की प्रकृति में वेदना, आनन्द के साथ विद्रोही चेतना भी अन्तर्व्याप्त है । "नीरा" "दासी" "गुलाम", "ममता," "सलीम," "जहाँनारा," आदि कहानियाँ

में हिन्दू और मुसलमान के बीच परस्पर प्रेम और एकता की चर्चा प्रसाद ने की है।हिन्दू और मुसलमान दोनों की एकता से ही स्वतंत्रता प्राप्ति के उद्देश्य पूरे हो सकते हैं "नीरा" कहानी में मुस्लिम लड़की की शादी एक हिन्दू लड़का से होती है और "नीरा" इनकी बेटी का नाम है । समकालीन भारत में इस तरह के वैवाहिक संबंध के उदाहरण बेशुमार हैं । आसफअली और अरूणा, इंदिरा गाँधी और फिरोज गाँधी, एम·फारुखी और विमला आदि की शादियाँ स्वाधीनता आन्दोलन की अवधि में होती हैं जो दोनों सम्प्रदायों की एकता की ओर संकेत करते हैं । इस प्रकार, प्रसादजी की दृष्टि मानवीय और धर्मनिरपेक्ष है ।

प्रसादजी ने हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विधवा की समस्या, परित्यक्त नारी की समस्या, पुनर्विवाह की समस्या आदि को कहानियों का विषय बनाकर समकालीन समाज के दबाव का चित्र खींचने का सफल प्रयास किया है । " रूप की छाया" ,"सहयोग", विजया", "गुदड़ी में लाल","दुखिया" चित्तौड़ उद्धार" आदि कहानियाँ इसके प्रमाण हैं । "विजया" कहानी की परित्यक्ता पत्नी ललकारती है । "विजया" कहानी की परित्यक्ता पत्नी ललकारती है -" समाज से डरो मत । अत्याचारी समाज पाप कहकर कानों पर हाथ रखकर चिल्लाता है, वह पाप शब्द दूसरों को सुनाई पड़ता है: पर वह स्वयं नहीं सुनता ।"[1] नारी के प्रति सामंती समाज की भोगदृष्टि के विरूद्ध नारी का आक्रोश है । " चित्तौड़ उद्धार" में विधवा

1· जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 24।

विवाह का सुंदर उदाहरण है, जिसे नायक हम्मीर आगे बढ़कर स्वीकार करता है । "गुदड़ी में लाल" और "दुखिया" विधवा-जीवन की त्रासदी का दस्तावेज है जो हिन्दू व्यवस्था के खोखलेपन का मजाक उड़ाता है ।

प्रेम और वेदना प्रसाद की कहानियों में आरम्भ से अंत तक अनुस्यूत है । प्रेम, स्नेह के बिना जीवन, समाज विश्व नीरस है, उनके बीच का संबंध कृत्रिम और जरूरत की सीमा तक ही होगे जबकि प्रेम के आधार पर स्थापित संबंध अटूट होता है, प्रेम की वेदना ही मनुष्य को कर्मक्षेत्र में प्रवेश करने की प्रेरणा देती है, मनुष्य को निकट लाता है । प्रेम पर आधारित मनुष्यों के बीच का संबंध उनकी जरूरतों को भी पूरा कर देते हैं । प्रेम सारी वेदनाओं की दवा है, प्रेम मानवता का मूल मंत्र है । डा॰ नामवर सिंह "भ्रम और वास्तविकता" नामक एक लेख में स्नेह की विशालता की ओर संकेत करते हैं -"···· यही स्नेह साहित्यकीअक्षय-अजस्र रसधारा है । यह रसधारा मानव हृदय से निकली है और मानव हृदयों में होकर बह रही है । "[1] अतः प्रसाद अपनी कहानियों में हर स्थिति के चित्रण में प्रेम को कहानियों के केन्द्र में रखते हैं । उनके इतिहास के प्रति दृष्टिकोण में यह प्रमतत्व ही है जो अतीत को वर्तमान से संबद्ध करता है । उनका प्रेम उनकी संस्कृति है जो आदिकाल से वर्तमान काल तक प्रवहमान है ।

1॰ डा॰ नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ065

उपर्युक्त चर्चाओं से यह स्पष्ट होता है कि प्रसादजी के साहित्य में समसामयिक राजनीति और लोक यथार्थ का व्यापक दबाव है और अत्यंत कौशल से उन्हें अपनी रचनाओं में गुम्फित करते हैं । भारतेन्दु की परम्परा का उन्होंने भी साहित्य के हर क्षेत्र में निर्वाह किया है । "इंदु" पत्रिका के प्रकाशन में सहयोग देकर और उसके प्रथम अंक में साहित्य और राष्ट्र के प्रति दो शब्द लिखकर गुलाम भारत में अखबारों और पत्रिकाओं के प्रकाशन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन प्रसादजी करते हैं जो अन्ततः मुक्ति-संघर्ष में तीव्रता लाता है । समकालीन समाज में पारसीनाटक व्यवस्था से आक्रांत नाटक और रंगमंच के खिलाफ भी वे बोलते हैं। उस समय के, जो फूहड़ ढंग से, समाज की अभिरूचि को कुत्सित करते हैं । हिन्दी में रंगमंचों की असफलता के कारणों की जाँच-पड़ताल प्रसाद करते हैं क्योंकि नाटक एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो जनता से रंगमंच के माध्यम से सीधे जुड़ता है और जनता को गहरे प्रभावित करता है । इसीलिए वे "रंगमंच" की दुर्दशा पर दुख व्यक्त करते हैं । उसके प्रधान कारण बताते हुए वे अपने लेख "रंगमंच" में लिखते हैं-"···· रंगमंचों की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उनमें अभाव; विशेषत: हिन्दी रंगमंच के लिए । बहुत से नाटक मंडलियों द्वारा इसलिए नहीं खेले जाते कि उनके पास स्त्री पात्र नहीं है, रंगमंच की तो अकालमृत्यु हिन्दी में दिखाई पड़ रही है ।"[1] प्रसादजी की चिंता विलक्षण है । प्रसाद के समय में नारी घर की दीवार में बंद है, उसे मुक्त करने की चाह उनमें इतना प्रबल है कि वे उसे रंगमंच पर देखना चाहते हैं ।

---

1. जयशंकर प्रसाद- काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0 112

निश्चितरूप से प्रसादजी अपने समय का प्रतिनिधित्व साहित्य में करते हैं लेकिन प्रेमचंद की अभिव्यक्ति शैली से भिन्न । प्रसाद अतीत को वर्तमान तक खींच लाते हैं जिसमें संस्कृति की भूमिका दृष्टव्य है । उन्हीं के शब्दों में " अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्यनहीं रखना चाहिए।"[1] अत: आज की सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनीतिक वातावरण में प्रसाद जी अधिक प्रासंगिक हो गए हैं । प्रसादजी संक्रमणकालीन रचनाकार हैं । पतनशील सामंती व्यवस्था से पूँजीवादी-जगत् में प्रवेश करते हैं । अत: उनमें त्रुटियां भी हैं और कुछ त्रुटियाँ तो युग की सीमा के कारण भी हैं ।

xxx

---

1. जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0।।2

तृतीय अध्याय

यथार्थ के निकष पर प्रसादजी की कहानियाँ

यथार्थ के निकष पर प्रसादजी की कहानियाँ

श्री जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी कहानी विधा के जनक हैं । उनका कहानी संकलन "छाया" हिन्दी कहानी का प्रथम कहानी संकलन है। सन् 1911 ई॰ में "इन्दु" पत्रिका में उनकी पहली कहानी " ग्राम" प्रकाशित हुई थी, जिसमें पहलीबार भारतीय ग्राम का वास्तविक चित्र प्रस्तुत हुआ । "ग्राम" कहानी की रचना-प्रक्रिया से गुजरने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी चरित्र और वातावरण के चित्रण में अत्यंत भावुक संवेदनशील हो जाते हैं । उनकी अधिकांश कहानियों में कल्पना महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । प्रसादजी का कविमन कल्पना का पंख लगाकर कहानियों में भी उड़ान भरता है लेकिन जीवन की वास्तविकता उसे कहानी की जमीन के निकट ले आती है, इसीलिए कहानी, कहानी रूप में रह पाती है । किसी भी साहित्यिक विधा में कल्पना अनिवार्य तत्व है । उपन्यास कहानी तथा नाटक जीवन की समग्रता को उद्‌घाटित करते हैं; वस्तुत: गद्य की व्यवस्था में जीवन की समस्या अपनी पूर्णता के साथ उतर आती है । "समस्यामूलक और सुरदरे यथार्थ के लिए जब अनेक विवरणों की व्याख्या करनी होती है, जब अनेक पात्रों की समानता के बीच समग्रता को प्रयत्न-पूर्वक उद्‌घाटित करना होता है तो गद्य अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।"[1] लेकिन प्रसादजी के गद्य साहित्य में स्वच्छंद कल्पना वास्तविकता से इस तरह अनुस्यूत हो जाती है कि जीवन के सुरदरे यथार्थ मांसल हो उठते हैं।

1॰ जार्ज लुकाच-उपन्यास का सिद्धान्त, पृ0 1

वातावरण कल्पना के आवरणसेमनमोहक हो उठता है । रहस्यमय अवास्तविक दुनिया कहानी में उभरती है जो वास्तविक दुनिया से बिल्कुल अलग होती है । आधुनिक कहानी के इतिहास में झाँकने से जानकारी होती है कि कहानी, आख्यिका, गल्प या गप्प के रूप में ऐन्द्रजालिक रहस्यमय थी । यह रहस्यमयता या ऐन्द्रजालिकता फैंटेसी कल्पना के कारण होती है। रचना की फैंटेसी-शैली में यथार्थ होता है। हर काल्पनिक रचना में वास्तविकता विद्यमान होती है । काफ्का की कहानी "काया-कल्प" हो या गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता "अँधेरे में " या प्रसादजी की कहानी "इन्द्रजाल" हो- सबमें जीवन की वास्तविकता रहस्यमयता के वातावरण में उपस्थित है । डा॰नामवर सिंह के अनुसार, "सामान्यत: इस इंद्रजाल या जादुई-दुनिया को हम कल्पना की सृष्टि कहते हैं और अपने मन को समझाने के लिए इस कल्पना में सत्य के अंश का समावेश मान लेते हैं; लेकिन हमारे मन पर यथार्थवाद का आतंक है।"[1] वास्तव में जब किसी रचना में यथार्थ की परख यथार्थ-वाद के घोषित मानदंडों के आधार पर की जाती हैं, तब फैंटेसी शैली के अन्तर्गत अनुस्यूत यथार्थ की पहचान असम्भव हो जाती है और तभी प्रसादजी, मुक्तिबोध या काफ्का जैसे रचनाकारों पर भाववाद का आरोप लगाकर उनकी रचनाओं की अर्थवत्ता को खारिज कर दी जाती है । "यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भाववादी शिल्प है- उस शिल्प के अन्तर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।"[2] अत: यह संभव है कि फैंटेसी शैली में, प्रसादजी की

1॰ डा॰ नामवर सिंह-कहानी: नयी कहानी, पृ0 78
2॰ नेमिचन्द्र जैन -मुक्तिबोध रचनावली, भाग 4, पृ0 197

कहानियों में अवास्तविक दुनिया, वास्तविक दुनिया से अधिक वास्तविक हो । डा॰ नामवर सिंह के अनुसार," कहीं ऐसा तो नहीं है कि अन्तर्दर्शी लेखक ने चालू दुनिया के अंदर छिपी उस असली दुनिया को सहसा देख लिया है और पूरे विस्मय के साथ हमारे सामने उसे उद्‌घाटित कर दिया और अपरिचय तथा अनभ्यास के कारण हम उसे फैन्टास्टिक कह रहे हैं ।"[1] प्रसादजी अन्तर्दर्शी कहानीकार हैं । वे रचना में ऐसी ही दुनिया की रचना करते हैं जिनसे पाठक अभी तक अपरिचित हैं । ऐसी स्थिति में रचना में रहस्यमयता आ जाती है । 20वीं शती का नवजागरण नई जिज्ञासा, नई आकांक्षा, मनुष्य के अन्दर भर देता है, परिणामस्वरूप कल्पना की ऊँची उड़ान में रचनाकार सामंती समाज से मुक्त होकर नूतन संसार रच देता है । प्रसादजी भी नवजागरण से प्रभावित है । डा॰ नामवर सिंह रचनाकार की रचनात्मक मानसिकता में नई स्थिति में प्राप्त आकस्मिक बोध को फैंटेसी का कारण मानते हैं उनके अनुसार," यह आकस्मिक बोध ही "फैंटेसी" को जन्म देता है। जिनकी आँखे अंधी नहीं हुई हैं उनके लिए हर घटना या दुर्घटना एक झटका है और हर झटका एक ऐसी दुनिया में फेंक देता है जो सपना मालूम होती है ।"[2]

कहानीकार दुनिया बदलने के लिए अपनी कहानी की दुनिया बदल देता है जिसमें रचनाकार की कल्पना,संवेदना,भावना और अनुभूति विलक्षण

1॰ डा॰नामवर सिंह- कहानी:नयी कहानी, पृ0 79
2॰ वही वही पृ0 80

भूमिका निभाती है, एक जादुई संसार की सृष्टि हो जाती है । प्रसादजी ऐसे ही रचनाकार हैं । कल्पना केवल प्रसादजी जैसे स्वच्छंदतावादी रचनाकार को ही दूर तक नहीं ले जाती, अपितु कार्लमार्क्स जैसे यथार्थवादी दार्शनिक विचारक को भी कल्पना जादुई दुनिया की सृष्टि में सहायता प्रदान करती है । साम्यवादी व्यवस्था एक स्वप्न ही है; ऐसीजादुई दुनिया होगी जिसमें नर-नारी, बच्चे, बूढ़े सभी एक समान होंगे, गरीबी-अमीरी का नामोनिशान न होगी,एक वर्गहीन समाज की स्थापना होगी, हर व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार चीजों के उपभोग के लिए स्वतंत्र होगा । आदिम साम्यवादी व्यवस्था से पूँजीवादी उपभोक्तावादी सभ्यता तक मनुष्य यात्रा करता पहुँच गया है । यह स्वप्न अभी तक बना हुआ है एक जादुई दुनिया होगी क्योंकि आज की वर्ग-विभाजित विषम, विकट स्थिति की तुलना में एक सुन्दर विकसित वैज्ञानिक साम्यवादी व्याख्या व्यक्त होगी । हर साम्यवादी लेखक की रचना में ऐसे संसार की योजना अवश्य होती है । इसीलिए किसी रचनाकार की रचना में यथार्थ का गुम्फन कल्पना की ऊँची उड़ान भरकर हुआ है तो उसे आदर्शवादी या भाववादी कहकर उनकी रचना के यथार्थ को अस्वीकार नहीं कर सकते । डा॰ नामवर सिंह अपनी पुस्तक " कहानी: नयी कहानी " में मार्क्स के एक वक्तव्य को उद्धृत करते हैं जिसमें एक वैज्ञानिक की खोज ही नहीं, बल्कि एक साहित्यकार का भी सत्यानुसन्धान है । मार्क्स के ये शब्द फैंटेसी कहानी का अंश लगता है,मार्क्स के अनुसार " पण्यवस्तु होते ही

मेज अलौकिक सी चीज हो जाती है। वह अपने पैरों के बल सिर्फ जमीन पर खड़ी नहीं रहती, बल्कि दूसरी पण्य वस्तुओं के संदर्भ में अपने सिर के बल खड़ी हो जाती है और अपने जड़ दिमाग से अजीब खयाल पैदा करने लगती है ....।"[1] मार्क्स ने बहुत सुंदर शब्दों में मेज के प्रति कुतूहल पैदा किया है एक ऐन्द्रजालिक दुनिया का चित्र खींच दिया है ।

अत: प्रसादजी की कहानियों मे बुने इंद्रजाल के भीतर जीवन-जगत् का सत्य मौजूद है । कहानी की रचना-प्रक्रिया से गुजरते हुए ही इस सत्य से साक्षात्कार किया जा सकता है । संभव है कहानी के अंत से कहानी के चरित्र,घटना, संवाद एक आध्यात्मिक संसार की ओर संकेत करते हों, पर जीवन के छोटे यथार्थ की झलक कहानी की रचना-प्रक्रिया में अवश्य मिलती है । "ग्राम" कहानी से लेकर उनकी अंतिम कहानी "सालवती" तक कल्पना की सघनता कम होती है और जीवन-जगत् का सत्य स्पष्ट होकर हमारे सामने आता है ।

प्रसादजी के कहानी संकलन "छाया" में कुल ग्यारह कहानियाँ हैं- 'तानसेन', 'चंदा', 'ग्राम', 'रसियाबालम', 'शरणागत', 'सिकन्दर की शपथ', 'चित्तौड़-उद्धार', 'अशोक, 'गुलाम', 'जहाँआरा' तथा 'मदन मृणालिनी'।

प्रसादजी के द्वितीय कहानी संकलन "प्रतिध्वनि" है, जिसमें कुल पंद्रह

---

1. डा. नामवर सिंह- कहानी: नयी कहानी, पृ0 89

कहानिया हैं - 'प्रसाद', 'गुदड़साई;' 'गुदड़ी में लाल,' 'अधोरी का मोह;' 'पाप की पराजय;' 'खंडहर की लिपि;' 'कलावती की शिक्षा;' 'चक्रवर्तों का स्तम्भ;' 'दुखिया,' 'प्रतिमा तथा प्रलय'। ये सारी कहानियाँ सन् 1925-26 के बीच की हैं ।

प्रसादजी का तीसरा कहानी संकलन "आकाशदीप" है जिसमें कुल उन्नीस कहानियाँ हैं 'आकाशदीप', 'ममता', 'स्वर्ग के खंडहर', 'सुनहला साँप' 'हिमालय का पथिक;' 'भिखारिन;' 'प्रतिध्वनि;' 'कला', 'देवदासी', 'समुद्र-संतरण' 'वैरागी' 'बनजारा', 'चूड़ीवाली', 'अपराधी', 'प्रणय चिन्ह;' 'रूप की छाया;' 'ज्योतिष्मती', 'रमला;' 'तथा' 'विसाती' ये सन् 1926 से 1929 के बीच की कहानियाँ हैं ।

प्रसादजी का चतुर्थ कहानी संकलन "आँधी" है, जिसमें कुल ग्यारह कहानियाँ हैं " 'आँधी', 'मधुआ', 'दासी', 'घीसू', 'बेड़ी', 'व्रतभंग', 'ग्रामगीत;' 'विजया;' 'अमिट स्मृति;' 'नीरा' तथा 'पुरस्कार' । ये कहानियाँ सन् 1929 और 1933 के बीच की कहानियाँ हैं ।

"इन्द्रजाल" प्रसादजी का पाँचवा और अंतिम कहानी संकलन है जिसमें कुल 14 कहानियाँ हैं - 'इन्द्रजाल;' 'सलीम;' 'छोटा जादूगर;' 'नूरी परिवर्तन;' 'संदेह;' 'भीख में', 'चित्रवाले पत्थर;' 'चित्रमंदिर', 'गुण्डा;' 'अनबोला' 'देवरथ;' 'विराम-चिन्ह' तथा 'सालवती'। सन् 1933 से 1936 तक की कहानियाँ हैं

इसप्रकार प्रसादजी के उपलब्ध पाँच कहानी संकलनों में कुल सत्तर कहानियाँ हैं । प्रसादजी की कहानी कला में समय के साथ-साथ स्वत: ही विकास हुआ है । यदि युग की सीमा को ध्यान में रखकर उनकी कहानी कला पर विचार किया जाये, तो कुछ दोष के साथ उनकी कहानी की कला में निरन्तर निखार होता है वह जनजीवन और संवेदना से अधिक से अधिक जुड़ती गई है । यथार्थ उनकी सत्तर कहानियों में कहीं शाश्वत बनकर आया है तो कहीं सामाजिक, कहीं व्यावहारिक एवं परिस्थितिजन्य है तो कहीं मनोवैज्ञानिक, कहीं वे रोटी की समस्या से जुझते हैं तो कहीं संस्कारों के जंगल में उलझे हुए पात्र को मुक्त कराने के प्रयास में रहते हैं । प्रसादजी के लगभग हर कहानियों में प्रेम तत्व उपलब्ध होते हैं । " प्रसाद ने प्रेम को कहानियों का विषय नहीं, दृष्टि बनाया है। उन्होंने जीवन में, समस्त पक्षों की व्याख्या प्रेमदृष्टि से ही की है ।"[1] अत: प्रेम प्रधान होते हुए भी प्रसादजी की निम्नलिखित कहानियाँ यथार्थ के धरातल पर खड़ी हैं- 'चंदा', 'ग्राम', 'गुलाम', 'सहयोग', 'पत्थर की पुकार', 'कलावती की शिक्षा', 'दुखिया', 'प्रतिमा', 'प्रसाद', 'ममता स्वर्ग के खंडहरमें,' 'प्रतिध्वनि', 'करुणा की विजय', 'पाप का पराजय,' 'चूड़ीवाली', 'देवदासी,' 'मधुआ', 'दासी', 'घीसू', 'बेंड़ी', 'व्रतभंग', 'विजया', 'पुरस्कार', 'इंद्रजाल', 'सलीम', 'छोटा जादूगर', 'संदेह', 'भीख में', 'विराम-चिन्ह,' 'गुंडा', 'देवरथ' 'अनबोला', 'सालवती' और भी कुछ कहानियाँ यथार्थ की सीमा में आ सकती हैं।शूद्रों, दलितों, दीनों, दुखियों, भीलों, निराश्रितों आदि का साहित्य में प्रवेश

---

1. डा. प्रभाकर शर्मा - प्रसाद समग्र अनुशीलन, पृ0 210

लगभग निषिद्ध ही था, प्रसादजी ने उन्हें अपनी कहानियों, में जगह देकर यथार्थवाद के प्रति अपनी विचारधारा की पुष्टि ही नहीं की है अपितु उनके जीवन संघर्ष को भी उद्घाटित किया है । समाज, साहित्य राजनीति, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इनका स्थान हो- इसका उद्घोष वे केवल कहानियों से ही नहीं अपितु नाटकों, उपन्यासों के माध्यम से भी करते हैं । उनकी कहानियों में दरिद्रता, दुःख, पीड़ा और अभाव को वाणी मिली है । अत्याचार और अन्याय का विरोध पहलीबार कहानी "ग्राम" में उभरकर सामने आता है जिसमें जमींदार के आतंक और उससे पीड़ित जन की मार्मिक प्रस्तुति होती है । प्रसादजीकीअनेक ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें आतंक दबे पाँव आता है और यहाँ से वहाँ तक देखते-देखते छा जाता है । " ग्राम" आज के यथार्थवादी साहित्य की भूमिका है । सामंतों, जमींदारों के जुल्म की कहानी सन् 1911 ई॰ के आसपास प्रकाश में आना प्रारम्भ होता है, यद्यपि यह अत्याचार भारतेन्दु कालीन समाज में भी विद्यमान है, परन्तु पहलीबार, प्रसादजी की कहानी में अच्छी तरह उभरकर आ सका । जमीन की नीलाम की प्रक्रिया में ही सामंती-पूंजीवादी- व्यवस्था की क्रूरता दृष्टिगत होती है । ग्राम कहानी में स्त्री अपनी पुत्री के साथ उस गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव में आ जाती है । मोहनलाल, जमींदार दूसरे गाँव का पुत्र है, जो आधुनिक शिक्षित युवक है, कुकृत्य पर लज्जित होता है ।

गाँव के जनजीवन का सुंदर दृश्य भी प्रसादजी ने इस कहानीमें

उभारा है । भारतीय ग्राम में किसानों की संख्या अधिक है इसलिए बैल, गाय, वृक्ष, हरे-भरे खेत में ऊँचा मचान, कच्चा मकान का मनुहारी दृश्य है । 20वीं शती का भारत आधुनिक रोशनी में प्रगति कररहा है अत: भारत के गाँव में भी रोशनी का प्रभाव दिखाई देता है । रेलगाड़ी स्टेशन, आदि की चर्चा प्रसादजी "ग्राम" कहानी में करते हैं ।

भारतीय समाज में पूँजीवादी व्यवस्था का क्रूर शिकंजा धीरे-धीरे व्यक्ति को अपनी लपेट में ले रहा है । " प्रतिध्वनि " कहानी इसी का दस्तावेज है । 1,2,3 की नीलामी की बोली चौदह वर्षीय बालिका श्यामा को भावशून्य कर देती है । "श्यामा" की कैरियों का बाग नीलाम हो जाता है । माँ दहेज के अभाव में श्यामा की शादी नहीं कर पाती और चल बसती है । श्यामा अपनी गरीबी और यौवन को कच्चे घर में छुपाकर रखती है और पीछेवारी पर मामी तारा की लोभ दृष्टि जमी हुई है । अमीन श्यामा के यौवन का दीवाना है, अत: वह श्यामा को रूपया देकर नीलाम को रोकना चाहता है लेकिन "मन्नी ने देखा, बरसात की सी गीली चिता श्यामा की आँखों में जल रही है ।"[1] श्यामा स्वाभिमानी है, अपनी विपत्ति की पीड़ा यौवन को बेचकर कम नहीं करना चाहती । युवती श्यामा पर नीलामी का घातक प्रभाव होता है, वह धीरे-धीरे भावशून्य हो जाती है तारा का उत्तराधिकारी प्रकाश पगली श्यामा के यौवन पर बहुत दिनों से आँखे गड़ाएँ बैठा है, लगता है कि श्यामा

1.जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 138

इस भावशून्यता में भी प्रकाश की आँख में रेंगते लाल डोरे से सावधान है । वह कहती है --" यह किस पाप का फल है ? तू जानता है, इसे कौन खायगा ? बोल ! कौन मरेगा ? बोल ! एक दो तीन"--
"चोरी को पागलपन में छिपाना चाहती है । अभी तो तुझे बीसों चाहने वाले मिलेंगे । चोरी क्यों करती है ?" प्रकाश ने कहा ।
एकबार पगली का पागलपन, लाल वस्त्र पहनकर उसकी आँखों में नाच उठा । उसने आम तोड़-तोड़कर प्रकाश के क्षय जर्जर हृदय पर खींचकर मारते हुआ गिना एक-दो-तीन । .....। उसकी प्रतिध्वनि अमराई में गूँज उठी।"[1] मानवीय असंवेदनशीलता की पराकाष्ठा इस कहानी में व्यंजित हो उठती है । श्यामा की त्रासदी तारा और प्रकाश जैसे व्यक्तियों के लिए लक्ष्मी का द्वार खोलती है । प्रसादजी इस कहानी के आरम्भ से लेकर अंत तक सामाजिक यथार्थ का नग्न तस्वीर खींच देते हैं ।

"भीख में " (इंद्रजाल कहानी संकलन से) कहानी में इन्दु अपने "स्त्रीत्व" अधिकार के लिए पति "ब्रजराज" से संघर्ष करती है । भरी-पूरी गृहस्थी में सुशीला पत्नी इन्दो के होते हुए भी " मालो" के इश्क में पागल ब्रजराज पत्नी द्वारा विरोध करने पर घर छोड़कर चला जाता है । वह ड्राइवर की नौकरी करता है । एक दिन बस में बैठी हुई मालो को बार-बार मुड़ कर देखने के उपक्रम में बस वृक्ष से टकरा जाती है, परिणामस्वरूप उसे नौकरी से हाथ धोनी पड़ती है और अंत में निरूपाय ब्रजराज भिखारी

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 139-140

बन जाता है। एक दिन मालो से भिखारी ब्रजराज बात करता है, पंडा उसे गालियाँ देता है क्योंकि "धनी जजमान का अपमान भला वह पंडा कैसे सहता । उसने ब्रजराज का हाथ पकड़कर घसीटते हुए कहा- "उठ बे, यहाँ फिर दिखाई पड़ा, तो तेरी टाँग ही लँगड़ी कर दूँगा ।"[1] पंडा धन से स्वचालित हो उठता है, धर्म की करूणा शुष्क हो जाती है, तभी तो पंडा इतना कठोर हो उठता है ।" कहानी में भगवान को बुद्धि से परिचालित बताकर ब्रजराज की आशिकी और अकर्मण्यता का नग्न रूप प्रस्तुत किया है ।"[2] नारी अकर्मण्य व्यक्ति से प्यार नहीं करती । इन्दो इस परिस्थिति में ब्रजराज को मालो के साथ देखती है, तो तूफान खड़ा कर देती है।

"करूणा की विजय " प्रसादजी की प्रतीकात्मक कहानी है, जिसके माध्यम से वे करूणा लघुमानव का पक्ष लेते हैं । तेरह वर्ष का गरीब बालक मोहन पर तीन वर्षीय बहन रामकली के पालन-पोषण का असमय बोझ आ गया है । रामकली चला के लिए मचल उठती है । भूख से तड़प उठती है। करूणा और दरिद्रता के बीच संघर्ष आरम्भ हो जाता है । " ढाई पैसे का वह बेच चुका है । अभी दो-तीन पैसे का चना जो जल और मिर्च में उबाला हुआ था, और बचा है । मोहन चाहता था कि चार पैसे उसके रोकड़ में और बचे रहे, डेढ़-दो पैसे का कुछ लेकर अपना और रामकली का पेट भर लेगा। चार पैसे के सबेरे चने उबालकर फिर अपनी दुकान लगा लेगा ।"[3]

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 301
2. डा.प्रभाकर शर्मा - प्रसाद, समग्र अनुशीलन, पृ0 213
3. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ पृ0 91-92

छोटे बालक के अंदर उत्तरदायित्व का बोध इस तरह है कि वह कल की परवाह किए बगैर बहन रामकली की भूख मिटानी पड़ी । दरिद्रता और करूणा वस्तुत: क्रूर मनुष्य और मानवीयता के बीच संघर्ष है । मोहन अपनी दीनता के देश में स्वप्न देखता है और एक झटके से उठकर बोल उठता है- "भीख न माँगूगा, मरूँगा।"[1] गरीब मोहन मरना पसंद करेगा लेकिन भीख नहीं माँगेगा और इसीलिए वह जीवन संघर्ष के हलाहल में कूद पड़ा है । रामकली कुएँ में डूबकर मर जाती है । डाल पर से दरिद्रता के अट्टाहास की तरह उल्लू बोल उठा । प्रसादजी अपराधी मोहन का पक्ष लेते हैं जब वे न्यायाधीश के माध्यम से कहते हैं-"..... नगर के व्यवस्थापक पर इसका दायित्व है कि तीन वर्ष की रामकली तुम्हारे हाथ में क्यों दी गयी । यदि कोई उत्तराधिकारी विहीन धनी मर जाता, तो व्यवस्थापक नगर-पिता उसके धन को अपने कोष में रखवा लेते । यदि निर्बोध उत्तराधिकारी रहता, तो उसकी सम्पत्ति सुरक्षित करने की वह व्यवस्था करते । किन्तु असहाय, निर्धन और अभिमान तथा निर्बोध बालक के हाथ में शिशु का भार रख देना राष्ट्र के शुभ उद्देश्य की गुप्तरीति से और शिशु की प्रकट रूप से हत्या करना है । तुम इसके अपराधी नहीं हो । तुम मुक्त हो।"[2] "करूणा की विजय " कहानी का विषय आज के समाज में उतना ही सत्य है, जितना प्रसादकालीन समाज में था। भारत की स्वतंत्रता के 45 साल बाद भी तेरह वर्षीय बालक बालिकाओं पर अपने परिवार चलाने का बोझ बदस्तूर जारी है । होटलों में दुकानों

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूण कहानियां, पृ0 92
2. वही वही पृ0 92-93

में सड़क के किनारे बैठे जूते में पॉलिस करते हजारों लाखों की संख्या में बच्चे काम करते मिल जाएँगे । उनके अंतहीन शोषण की कहानी और भी असहनीय हो जाती है जब बच्चे बंधुआ मजदूर की तरह कार्य करते हैं। उसके पढ़ने-लिखने के दिन में उसके प्रति इस क्रूर अन्याय से प्रसादजी जैसे भावुक हृदय में करूणा का संचार होना स्वाभाविक है । इसके लिए वे व्यवस्था को दोषी मानते हैं । प्रसादजी व्यवस्था परिवर्तन की माँग नहीं करते लेकिन भ्रष्ट नगर पिता पर अँगुली अवश्य उठाते हैं । रचनाकार कभी-कभी कुछ नहीं कहकर भी बहुत कुछ कह जाता है ।

प्रसादजी की कहानी " मधुआ" ऐसी ही अमानवीय स्थिति को हमारे सामने रखती है । प्रेमचंदजी की कहानी "कफन " और "मधुआ" की तुलना पात्रों की प्रकृति के आधार पर संभव है । "शराबी" और"कफन" घीसू और माधो अपनी अमानवीयता में एक सीमा तक एक समान दीखता है । "कफन" खरीदने के लिए घीसू और माधो को गाँव वालों ने पैसे दिये हैं । पहली बार जीवन में इतने पैसे देखकर बाजार में ताड़ी की दुकान उसे लुभा जाती है, घर पर लाश पड़ी है । बाप बेटे दोनों अमानवीयता की प्रक्रिया से गुजरते हैं और जीवन की मस्ती ताड़ी की दुकान पर ताड़ी पीकर पूरी करते हैं । "मधुआ " का शराबी सरकार से कहता है -" सरकार ! मौज-बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुखपूर्ण जीवन से अच्छी है । उसकी खुमारी में रूखे दिन काट लिए जा सकते हैं ।" [1]

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियां, पृ0 207

ठाकुर साहब को शराबी से कहानियाँ सुनने का चस्का है । ठाकुर को वह एक कहानी सुनाता है, जिसमें आसपुच्छोला एक लड़की के आँचल में भुने हुए भुट्टे के दानों के बदले मोतियों से भर देता है और भूख से मर्माहत लड़की उसे चबाकर थू-थू करने लगती है । ठाकुर साहब इस कहानी की पीड़ा न समझकर ठठाकर हँसता है । अमानवीयता की हद है । परमानंद श्रीवास्तव "स्वाधीन चेतना और स्वच्छंदतावाद की कहानियों " लेख में "मधुआ" कहानी के इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हैं, उनके अनुसार-" ... और वह गरीब लड़की ! कंगाल तो कंगाल !!- उसने मोती भी न देखे थे , उन्हें चबाने ही लगी थी । ठाकुर साहब जिसे हँसाने वाली कहानी समझकर बार-बार सुनना चाहते थे अपने भीतर कितनी गहरी पीड़ा छिपाये हुए हैं, यह बात पाठकों से छिपी नहीं रहती । वर्ग चेतना और किसे कहते हैं - जो कहानी एक वर्ग के लिए केवल रंजक जान पड़ती है, वही दूसरे वर्ग के लिए या वर्ग विशेष का अतिक्रमण करने वालों के लिए पीड़ा प्रधान है।"[1] कुँवर साहब जब अपने यहाँ कार्यरत छोटे बालक "मधुआ" को पीटता है, तो कहानी की दिशा बदल जाती है और कह सकते हैं , यही वह बिन्दु है जहाँ से प्रेमचंद की लोकप्रिय कहानी "कफन" "मधुआ" से अलग दीखती है । शराबी संघर्षमय जीवन में लौट आता है । शराबी मधुआ को रोते देखकर अपने साथ ले आता है। पूरा एक दिन कुँवर साहब की सेवा में वह खर्च कर चुका है लेकिन वह बहुत भूखा है । शराबी उसे खिलाता है, मधुआ संतुष्ट है। उसकी संतुष्टि को देखकर शराबी को भी संतोष होता है । कहानी का मूल कथ्य

---

1. शम्भूनाथ - समकालीन सृजन, पृ0 306

अब सामने आता है ।" एक चिंतापूर्ण आलोक में आज पहले पहल शराबी ने आँख खोलकर कोठरी में बिखरे हुए दारिद्र्य की विभूति को देखा और देखा उन घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को, उसने तिल-मिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया -" किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की ? आह री नियति । तब इसको लेकर मुझे घर-बारी बनना पड़ेगा क्या ?"[1] शराबी की यही चिंतना उसे कर्म के जीवन में वापस ले आती है । प्रसादजी का पात्र नियति को स्वीकार नहीं करता । नियति जूझती हुई संघर्ष के क्षेत्र में पात्र को वापस ले आती है । अपनी ध्यान धरने की मशीन के साथ मधुआ और वह कर्म के क्षेत्र में वापस आते हैं "कर्म की संस्कृति के लिए आकर्षण जिस तर्क से प्रेरित है वह जीवन की उपस्थिति का ही समूचा तर्क है । मधुआ का हस्तक्षेप है।"[2]

प्रसादजी की कहानी "बेड़ी" भी जीवन की अमानवीयता, त्रासदी को व्यक्त करती है । "बेड़ी" छोटी कहानी है, "कफन" की तरह मार्मिक कहानी । "कफन" में अविश्वास के कारण घीसू और माधो अलाव में पकते आलू को छोड़कर भीतर नहीं जाते, जबकि "बेड़ी" में बाप यह सोचकर कि बेटा मुझे भूखों मरने के लिए छोड़कर फिर कहीं न चला जाय, उसके पैरों में लोहे की बेड़ियाँ पहना देता है । "हे भगवान, भीख मँगवाने के लिए, बाप अपने बेटे के पैर में बेड़ी भी डाल सकता है ।"[3] इसमें जीवन के

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 209
2. शंभुनाथ - समकालीन सृजन, पृ0 306
3. जयशंकरप्रसाद-प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ 230

प्रति मोह और उससे उत्पन्न संत्रास की कथा है । कहानी जीवन में व्याप्त अमानवीय प्रक्रिया को पैने ढंग से प्रस्तुत करती है ।

"छोटा जादूगर" का वह नन्हा बालक अपनी अल्प अवस्था में अपनी जिन्दगी की समस्याओं से जूझता है । यह जटिल संसार उसे अल्प आयु में ही अपनी उम्र से बड़ा बनाकर समस्याओं के सामने ला खड़ा करता है । उसकी माँ बीमार है । पिता देश की खातिर जेल में बंद है । अत: उत्तरदायित्व का बोध उसे जादूगर बना देता है । उसकी माँ ने आज बार-बार कहा है कि शीघ्र लौट आना, मेरी अंतिम घड़ी आ गई है, इसीलिए आज छोटा जादूगर का मन तमाशा दिखाने में टिकता ही नहीं। उसे फिर भी भूख मिटाने और माँ की दवा के लिए तमाशा दिखाना ही ही पड़ता है। " वह शर्बत पीने के बदले कुछ पैसे पाना अच्छा समझता है क्योंकि उससे उसकी भूख मिट सकती है और माँ की दवा भी आ सकती है। उसके शब्दों में ही -" तमाशा देखने नहीं, दिखाने निकला हूँ । कुछ पैसे ले जाऊँगा, तो माँ को पथ्य दूँगा । मुझे सरबत न पिलाकर मेरा खेल देखकर मुझे कुछ दे दिया होता, तो मुझे अधिक प्रसन्नता होती ।"[1] प्रसादजी ने इस कहानी में बहुत ही प्रासंगिक समस्या को उठाया है । आजादी के आंदोलन में बहुत ऐसे परिवार बिखर गये । देश के प्रति प्रेम की भावना रखने वाला व्यक्ति इस तरह का त्याग प्रस्तुत करता है, लेकिन इसका

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 276-277

प्रतिकूल असर उसके बच्चों और अन्य कुटुम्बों पर पड़ता है जो समस्याओं से सामना करने में हिल जाते हैं और समझौता कर लेते हैं या व्यक्ति के त्याग की बर्बादी, बकवास आदि कहकर सामान्य जीवन जीते हैं लेकिन "छोटा जादूगर" में यह तेरह वर्षीय बालक अपनी सारी समस्याओं का सामना करते हुए भी देश के प्रति प्रेम रखता है । गरीबी, भूख इस अवस्था में व्यक्ति के सहचर हो जाते हैं । देश पर प्राण न्योछावर करने वालों की बीमार पत्नी को अस्पताल से निकाल दिया जाता है । छोटा जादूगर के शब्दों में -" मेरी माँ यही है न । अब उसे अस्पताल वालों ने निकाल दिया है ।" झोपड़ी में गरीबी पसरी हुई -" उस झोपड़ी में देखा, तो एक स्त्री चिथड़ों से लदी हुई काँप रही थी ।" [1] "छोटा जादूगर" वस्तुत: जीवन संघर्ष में "बड़ा जादूगर" है जो अपनी कच्ची उम्र में ही बड़ा हो गया है ।

"विराम-चिन्ह" प्रसादजी की ऐसी कहानी है, जिसके आधार पर उन्हें यथार्थवादी कहानीकार कहा जा सकता है । कहानी में भारतीय समाज की जाति-व्यवस्था का यथार्थ कल्पना से अधिक बलवान है । राधे शूद्र जाति से संबंधित है जिसका मंदिर में प्रवेश निषिद्ध है । राधे की माँ मंदिर के सिंहद्वार से बाहर फल केले, पपीते आदि की दुकान लगा रखी है लेकिन भक्त उसकी ओर देखते भी नहीं । कारण स्पष्ट है कि भक्तगण उच्चजाति से संबंध रखते हैं अत: भगवान के ऊपर प्रसाद चढ़ाने के लिए शूद्रा

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 332

से क्यों खरीदें ? जिस मंदिर में आज तक वह प्रवेश नहीं कर पाई है;उसके प्रति और उसमें स्थापित देव-प्रतिमा के प्रति बुढ़िया को अगाध विश्वास है तभी तो वह भी नैवेद्य लगाती है । " भगवान ने उसे अछूत ग्रहण किया था नहीं, कौन जाने, किन्तु बुढ़िया ने उसे प्रसाद समझकर ही ग्रहण किया ।"[1] राधे विद्रोही प्रकृति का युवक है, वह अपनी गरीबी का कारण ऊँच जाति द्वारा बनाये गये कठोर नियम को मानता है । राधे मंदिर में प्रवेश की योजना बनाता है, जिसकी भनक पंडा को मिल जाता है । जमादार कुंज उसकी इस योजना के परिणाम बतलाता है । राधे क्रोध में आकर कहता है -" जाऊँगा, तब तेरे बाप के भगवान हैं । तू होता कौन है रे ।"[2] राधे का सही प्रश्न है कि भगवान और व्यक्ति के बीच अवरोधक के रूप में ये पंडा पुजारी क्यों ? मंदिर में चढ़ाये गए प्रसाद,चावल महन्त अकेले क्यों खाता है ? " अकेले-अकेले बैठकर भोग-प्रसाद खाते-खाते बच्चू लोगों की चरबी चढ़ गयी है । दरशन नहीं रे - तेरा भात छीनकर खाऊँगा। देखूँगा, कौन रोकता है ।"[3] हिन्दू धर्म में मंदिर-व्यवस्था ही समाज व्यवस्था है । मंदिर का महन्त ब्राह्मण होता है जो ईश्वर और भक्त के बीच दीवार बनकर खड़ा रहता है । भक्त द्वारा ईश्वर के प्रति अर्पित धन का अकेला मालिक होता है । मंदिर समाज में जाति के आधार पर व्यक्ति को श्रेष्ठ और शुद्र बनाता है जो अपने नियमों में अत्यंत कठोर होता है । शूद्र तो हिन्दू जाति-व्यवस्था में सबसे निम्न और अधम जाति है जिसे मंदिर में

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 331
2. वही वही पृ0 332
3. वही वही पृ0 332

जाना निषेध है । धीरे-धीरे निम्न जाति के व्यक्तियों का यह संस्कार हो जाता है । राधे की माँ राधे को इसी संस्कारवश समझाता है -" न बेटा । किसी ने तुमको बहका दिया है । भगवान के पवित्र मंदिर में हमलोग आज तक कभी नहीं गये । वहाँ जाने के लिए तपस्या करनी चाहिए।"[1] लेकिन राधे ताड़ीखाने में सबकी राय से मंदिर में प्रवेश की योजना बना लेता है । दूसरे दिन, सैकड़ों, अछूतो को लेकर राधे मंदिर में प्रवेश के लिए तत्पर है और उधरआस्तिक भक्तों का झुंड भगवान को इन पापियों से रक्षा के लिए तत्पर है । खूब लड़ाई होती है, राधे घायल होकर गिर जाता है । पुलिस आ जाती है । बुढ़िया में न जाने कहाँ से आवेग आ जाता है, चिल्ला उठती है -" राधे की लोथ मंदिर में जाएगी ।"[2] बुढ़िया राधे को लेकर मंदिर के द्वार के पास पहुँचकर रूक जाती है । बुढ़िया मंदिर के दहलीज पर सर रखती है तो उठा नहीं पाती ।" मंदिर में घुसने वाले अछूतो के आगे बुढ़िया विराम-चिन्ह सी पड़ी थी ।"[3] प्रसादजी हिन्दू जाति व्यवस्था की इस क्रूरता को बड़ी यथार्थता से उभारते हैं । जहाँ धर्म एक पाखंड के अतिरिक्त कुछ नहीं है लेकिन संपूर्ण समाज पर धर्म का व्यापक असर है । धर्म मुट्ठीभर उच्च जाति के लोगों की सुविधा की रक्षा करता है, जिसने जाति-व्यवस्था का नियम समाज में इस तरह बनाकर प्रस्तुत किया है कि समाज धर्म की कृपा, दयालुता से ही संचालित है । डा० पुरूषोत्तम अग्रवाल " आलोचना के स्वधर्म के लिए " वाद विवाद संवाद " लेख में जाति प्रथा के उदय का कारण बताते हैं, उनके अनुसार - "अपनी सुविधा से चीजों

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ० 332
2. वही वही वही
3. वही वही पृ० 333

को समायोजित कर चुकने के बाद उत्पन्न सहिष्णुता के पाखण्ड का सामाजिक रूप जाति प्रथा है, इसी पाखंड की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति बहुलतावाद है। इस सहसंबंध को समझे बिना न तो सामाजिक समता का संघर्ष संभव है और न सांस्कृतिक पुनर्परिभाषा का ।"[1]

प्रसादजी ने हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई सभी धर्मों के पाखंड को अपनी कहानियों का विषय बनाया है । जीवन की मूलभूत आवश्यकता "काम" को धर्म के आवरण में दबाया नहीं जा सकता ब्रह्मचर्य पाखंड है- देवरथ ऐसी ही कहानी है , जिसमें एक ओर आर्यमित्र जैसे बौद्धभिक्षुक से बौद्धविहार के कठोर नियम ब्रह्मचर्य की उपेक्षा करता है और दूसरी तरफ महास्थविर अपनी काम-पिपासा के ताप को भिक्षुणी बनी सुजाता के देह से खिलवाड़ करके शांत होता है । " व्यर्थ सुजाता । मैंने अमावस्या की गंभीर रजनी में संघ के सम्मुख पापी होना स्वीकार कर लिया है । अपने कृतिम शील के आवरण में सुरक्षित नहीं रह सका । मैंने महास्थविर से कह दिया कि संघमित्र का पुत्र आर्यमित्र सांसारिक विभूतियों की उपेक्षा नहीं कर सकता।"[2] प्रसादजी की दृष्टि का भी ज्ञान होता है । वे संसार की भौतिकता से विमुख नहीं हैं उनके लिए जगत ही सर्वस्व है तभी तो आर्यमित्र के माध्यम से जीवन की मूलभूत आवश्यकता को धर्म के कठोर नियमों की अवहेलना करके

---

1. केदारनाथ सिंह - साखी, पृ0 63
2. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ328

स्वीकार करते हैं । देवरथ की सुजाता के देह-शोषण का भी वे डटकर विरोध करते हैं । सुजाता से कहलवाते हैं -" कठोर से भी कठोर मृत्यु दंड मेरे लिए कोमल है । मेरे लिए इस स्नेहमयी धरणी पर बचा ही क्या है प्रियतम ! तुम्हारा धर्मशासन घरों को चूर-चूर करके विहारों की सृष्टि करता है - कुचक्र में जीवन को फँसाता है । पवित्र गार्हस्थ्य बंधनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो । तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल मनुष्यों से भी तीव्र है, क्षुद्र है और निम्न कोटि की है ।" [1]

सुजाता अपने इस कथन में धर्म की परिभाषा कर गुजरती है जिसमें नारी को भोग का विषय बना दिया जाता है । सुजाता की वेदना वेश्यावृत्ति के कुचक्र में फँसी नारी की वेदना की तरह है ।

प्रसादजी की "सालवती" कहानी भी धर्म के आवरण में "सालवती" के अंतहीन शोषण - प्रक्रिया को प्रस्तुत करती है । "अनंग पूजा" के सुअवसर पर "सालवती" वैशाली की सर्वसुंदरी चुन ली जाती है । राजनीति की वैमनश्यता सालवती को सौ स्वर्ण पर हर रात बिकने के लिए मजबूर कर देती है । "अनंग पूजा" और राजनीति की आपसी सहयोग से सामान्य मनुष्य की दुर्गति की कहानी है - सालवती । आज का भारत इस दुर्दशा को अच्छी तरह से देख रहा है । सामान्य जनता धर्म के कुचक्र में बुरी तरह से फँस

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 329-330

बया है । सालवती विद्रोह करती है और रास्ता निकालती है । आज की जनता भी धर्म के इस कुचक्र को समझने लगी है, धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिकता के जहर से जनता संघर्ष कर रही है । प्रसादजी के यथार्थ चेतना में आशा है, उसमें संघर्ष करने की क्षमता संचेगित होती रहती है ।

"देवदासी" कहानी मंदिर-व्यवस्था में देवदासी बनी कन्या की वेश्यावृत्ति जिंदगी को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है । मंदिर में दर्शन करने वालों का मनारंजन करना देवदासी का कर्तव्य है ।" पद्मा" देवता के लिए उत्सर्ग कर दी गई देवदासी है । वह मंदिर की दीवारों के बीच आसपास के सामंतों, सामन्त कुमारों की काम-वासना को शांत करने का साधन बन गई है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट समझा जा सकता है "चिदंबरम् तुमने आज तक उसकी इच्छा के विरुद्ध बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, अब जब वह नहीं चाहती तो तुम उसे क्यों सताते हो ? रामास्वामी-सुनो चिदंबरम्, सुंदरियों की कमी नहीं, पर न जाने क्यों मेरा हृदय उसे छोड़कर दूसरी ओर नहीं जाता । वह इतनी निरीह है कि उसे मसलने में आनंद आता है । "[1] आज भी दक्षिण भारत के मंदिरों में देवदासी प्रथा बदस्तूर जारी है। प्रसाद जी ने देवदासी की व्यथा को यथार्थपरक दृष्टि से कहानी में प्रस्तुत किया है ।

"व्रतभंग" भी ऐसी ही कहानी है जो धर्म के पाखंड को सामने लाती है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 147-148

"धर्म" शूद्रों और नारियों के जीवन को नर्कमय बना देता है । समाज में शूद्रों और नारियों की स्थितियों को धर्म नियंत्रित करता है । "ब्रतभंग" की राधा धर्म का विरोध ही नहीं करती बल्कि नारियों के लिए धर्म की सत्ता को आवश्यक नहीं मानती । राधा कहती है --" सिद्धि यदि इतनी अधम है, धर्म यदि इतना निर्लज्ज है, तो वह स्त्रियों के योग्य नहीं, पिताजी । धर्म के रूप में कहीं आप भय की उपासना तो नहीं कर रहे हैं ।"[1] राधा स्वाभिमानी पत्नी है, वह उन स्त्रियों में नहीं है जो अन्याय को बर्दास्त करती है, वह क्रीतदासी नहीं है, औरत अपनी पहचान खुद बनाएगी । प्रसादजी हमेशा अपनी कहानियों में नीच, शूद्र, औरतों का पक्ष लेते हैं, जो समाज में अत्यंत शोंषित हैं ।

प्रसादजी की "पुरस्कार" और "आकाशदीप" बहुचर्चित कहानियाँ हैं। दोनों कहानियों में प्रेम का द्वन्द्व है । पुरस्कार कहानी में मधूलिका अरूण से प्यार करती है । व्यक्तिगत प्रेम और देश के प्रति प्रेम के बीच कोई युक्तिपरक तालमेल प्रसादजी को अभीष्ट नहीं । यह संबंधभावना मानवीय गरिमा से युक्त है जो एक युग के तीखे संघर्ष-प्रधान जीवन की ही देन है । मधूलिका कृषक बालिका के रूप में यदि निस्पृहता और कठोर स्वाभिमान के लिए गौरव प्राप्त करती है तो इस विशेष स्थिति का संबंध युग की विशिष्ट मूल्यभावना से जुड़ा हुआ है । वह राज्य की उत्सव व्यवस्था में परम्परागत नियमों की रक्षा के उद्देश्य से सहयोग देती है, पर अपनी भूमि की स्थिति

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 233

स्वीकार नहीं करती । मधुलिका राज्य के कठोर नियम को साधारण जनता की तरह मानने के लिए अभिशप्त है, उसका अपनी भूमि का मूल्य न लेना ही उस उत्सव का विरोध है । मधुलिका स्वच्छ निर्मल हृदया युवती है, उसे अपराध-बोध होता है, इसीलिए अरूप के आक्रमण की सूचना राज-सत्ता को देती है, परिणामस्वरूप अरूप को मृत्युदंड मिलता है । राजा पुरस्कार स्वरूप अपनी निजी समस्त खेती मधूलिका को वापस देना चाहते हैं पर मधूलिका उसके बदले मृत्युदंड माँगती है । जो उसके प्रेमी को भी मिला है कहानी में यह नाटकीय क्षण प्रेमप्रेरित है ।

प्रसादजी सहयोग, कलावती की शिक्षा, घीसू, दुखिया, ममता आदि कहानियों के माध्यम से पुरूष प्रधान समाज में स्त्री के शोषण को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है । प्रसाद जी कहानी में ही नहीं अपितु नाटक, उपन्यास में भी नारी जीवन की समस्याओं को विषय बनाया है। प्रसादजीका" ध्रुवस्वामिनी" नाटक स्त्री की समस्या का मार्मिक दस्तावेज है ।

प्रसादजी ने छोटी कहानियाँ अधिक लिखी हैं । इन्हें वे आख्या-यिकाएँ कहते हैं । अपने कथा-संग्रह "छाया" के निवेदन में कहते हैं -" साहित्य में ऐसी छोटी आख्यायिकाएँ केवल विनोद के लिए नहीं है, इनसे हृदय पर ऐसी छाया पड़ती है जो गम्भीर अथच प्रभावशालिनी होती है ।" [1]
इसमें संदेह नहीं कि इन कहानियों की रचना-प्रक्रिया से गुजरते समय एक झटका

---

1. रत्नाशंकर प्रसाद - प्रसाद ग्रंथावली, पृ0 8 (प्राक्कथन)

सा लगता है जिसमें जीवन का एक अद्भुत चेहरा दीख जाता है । तानसेन, प्रसाद, गूदड़साई, अधोरी का मोह, वैरागी, विसाती, करूणा की विजय प्रतिमा, पत्थर की पुकार, उसपार का योगी, ग्राम-गीत, विजया, बेड़ी, अमिट स्मृति, आदि छोटी कहानियाँ हैं । "करूणाकी विजय " और बेड़ी की चर्चा हम कर चुके हैं पिछले अध्याय में भी हमने इनमें से कुछ की चर्चा की है "पत्थर की पुकार" कहानी में शिल्पी का व्यंग्य जीवन के सत्य से साक्षात्कार कराता है -" आप लोग अमीर आदमी हैं, अपनी कोमल श्रवणेन्द्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं, और उसकी पुकार में दन्तचिन्त हो जाते हैं । करूणा से पुलकित होते हैं, किन्तु क्या कभी दुखी हृदय के नीरव-क्रंदन को भी अन्तरात्मा की श्रवणेन्द्रियों को सुनने देते हैं जो करूणा का काल्पनिक नहीं, किन्तु वास्तविक रूप है ।" [1] "बिसाती" प्रतीकात्मक कहानी है जहाँ प्रेमिका अपने पति से पूर्व प्रेमी के बारे में अत्यंत मार्मिक ढंग से बात को रखती है -" एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दुस्तान की ओर चला गया था । वह लौटकर आज सबेरे दिखलाई पड़ा, पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा, तो वह उधर कोहकाफ की ओर भाग गया ।" [2] फ़ीरी सम्पूर्ण सामंतीय समाज के सच को उघारती है जहाँ अपने प्रेम के बारे में पति के समक्ष कहने का अर्थ है मृत्यु अन्यथा अत्याचार की अंतहीन श्रृंखला ।

---

1. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 89
2. वही वही पृ0 184

प्रसादजी फैंटेसी शैली में यथार्थ को खूबसूरत ढंग से प्रस्तुत करने में कुशल कलाकार हैं । "स्वर्ग के खंडहर में " कहानी में प्रसाद जी की कल्पना ने स्वर्ग का सुन्दर वातावरण रच दिया है । डा॰ नामवर सिंह के अनुसार- " परन्तु जैसे उन्हें स्वयं ही अपनी कल्पना पर विश्वास नहीं है । इसलिए उन्होंने कहानी के बीच में चुपके से एक वाक्य डाल दिया है कि एक दिन पता चला कि स्वर्ग कैकय के पहाड़ी दुर्ग के समीप कहीं है ।" [1] प्रसादजी की पैनी यथार्थ दृष्टि स्वर्ग को ध्वस्त कर देती है । लज्जा इस यथार्थ को अत्यंत तीखा कर देती है जब वह कहती है -" स्वर्ग ! इस पृथ्वी को स्वर्ग की क्या आवश्यकता है शेख ? ना, ना, इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा । पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायगा । इसकी स्वाभाविकता साधारण स्थिति में ही रह सकती है । पृथ्वी को केवल स्वर्ग के लिए, क्षुद्र स्वार्थ के लिए इस महती को, धरणी को नरक न बनाओ, जिसमें देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय।" [2] डा॰ नामवर सिंह लज्जा के इस कथन पर कहते हैं -" कहानी की नायिका लज्जा के ये शब्द "स्वर्ग पर नहीं बल्कि "फैंटेसी " पर भी चुस्त बैठते हैं।" [3] इस प्रकार प्रसादजी अपनी फैंटेसी शैली में भी यथार्थ का सुंदर चित्रण करते हैं ।

xxx

1॰डा॰ नामवर सिंह - कहानी: नयी कहानी, पृ0 85
2॰ जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 128
3॰ डा॰ नामवर सिंह - कहानी: नयी कहानी, पृ0 85

चतुर्थ अध्याय

प्रसादजी की भाषा

प्रसादजी की भाषा

प्रसादजी कहानीकार के अतिरिक्त कवि भी हैं, बल्कि कवि के रूप में अधिक प्रतिष्ठत । प्रसादजी की भाषा रचना में जादुई दुनिया खड़ी कर देती है । साधारण सी बातों को बड़े-बड़े शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करने में प्रसाद जी सिद्धहस्त हैं । छायावादी कवियों में यह प्रवृत्ति अत्यधिक हैं । इस तरह की शब्द-स्फीति केवल प्रसादजी की रचनाओं में ही मिलते हैं । वे स्वच्छंदतावादी कवि हैं, इसीलिए कल्पना उन्हें दूर तक ले जाती है ।पद्य और गद्य दोनों में कल्पना का रंग उनकी भाषा पर चढ़ा है । कल्पनाशील होने के कारण प्रसादजी अपनी रचनाओं में शब्दों की बौछार लगा देते हैं, उसमें खूबसूरत जादू, तन्मयता और सजीवता विलक्षण है ।

प्रसादजी की भाषा ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है । प्रसादजी के पूर्व के रचनाकारों की रचनाओं में ऐसी भावप्रवण और कल्पनाशील भाषा दृष्टिगत् नहीं होती और न ही छायावाद के बाद ऐसी भाषा । जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के विकास प्रक्रिया में द्विवेदी युग के बाद छायावाद एक ऐतिहासिक तथ्य है उसी प्रकार छायावाद की भाषा भी ऐतिहासिक है ।

प्रसादजी की भाषा संस्कृतनिष्ठ है । वे तत्सम शब्दों को इस तरह तराशते हैं कि संस्कृत के शब्दों की मंथरता में भी स्वच्छंद कल्पना उनमें तीव्रता ला देती है । द्विवेदीयुगीन कविता में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है लेकिन वे " वाक्य घटना और भाव चेतना की दृष्टि से.....

तथ्यवादी है ।..... उससे किसी अमर कल्पना लोक का आभास नहीं मिलता।"[1]

भारतेन्दुकाल के नवजागरण में व्यक्ति उतना भावप्रवण और कल्पनाशील नहीं है जितना कि नवजागरण का द्वितीय चरण । नवजागरण के द्वितीयचरण में राष्ट्रीय आंदोलन की नयी लहरें व्यक्ति के मन की आकांक्षा का विस्तार करती हैं । व्यक्ति-मन कल्पना की ऊँची उड़ान भरने लगता है । सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति मिलती है । व्यक्तिवाद का उदय होता है । भाषा भी व्याकरण के रूढ़ नियमों की सीमा तोड़कर कल्पनाशील हो जाती है । द्विवेदी-युगीन भाषा की तथ्यपरकता की जगह कोमल भाषा का उदय होता है । द्विवेदी युगीन भाषा में केवल अर्थ-ग्रहण ही संभव हो पाता है जबकि इस युग में अर्थ-ग्रहण के साथ-साथ बिम्ब-ग्रहण करने की अपार क्षमता के साथ भाषा हिन्दी साहित्य में प्रवेश करती है । द्विवेदीयुगीन भाषा में खड़ी बोली के विकास पर अत्यधिक बल है; यह भी ऐतिहासिक तथ्य है और खड़ी बोली के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है । इस खड़ी बोली के कंकाल में कोमल पदावली का सुन्दर मांस चढ़ाने का कार्य प्रसाद और अन्य छायावादी कविगण करते हैं ।

छायावाद के अन्य स्वरों में एक महत्वपूर्ण स्वर है - स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विरोध । यह विरोध स्वच्छंदतावादी लहर का एक अंग है प्रसाद जी की भाषा इससे अलग नहीं है । अतः उनकी भाषा भी स्वच्छंद है । पद्य से लेकर

---

1. डा. नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ0 103

गद्य की भाषाओं में उनके स्वच्छंदतावादी संस्कार अनुस्यूत है ।

प्रसादजी की भाषा कोमल, माधुर्य कल्पनाशील और सामाजिक है। उनके रचनाओं में भाव के वैशिष्ट्य से भाषा वैशिष्ट्य स्वाभाविक है । प्रसादजी के पद चयन के पीछे विशेष मनोवृति झलकती है ।"[1] प्रसादजी कल्पना और भावना में भाषा का ऐसा निर्माण करते हैं कि भाव गौण हो जाता है और भाषा प्रधान हो उठती है लेकिन भाषा के अंदर तथ्य या अर्थ अपनी पहचान नहीं खोते । इसके विपरीत भाषा का सुंदर आवरण पहनकर कंकाल अर्थ या तथ्य सुंदर और सजीव हो उठते हैं । "मधु" या "मधुर" शब्द प्रसाद जी की भाषा में मोतियों की तरह बिखरे हैं जिससे भाषा की मधुरता और चारुता में वृद्धि होती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनमें मधुमयी प्रतिभा होने की बात करते हैं । उनके अनुसार-" प्रसादजी में ऐसी मधुमयी प्रतिभा और ऐसी जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढंग पर बहुत ही मनोरम विकास किया ।"[2] प्रसादजी आनन्दवादी दर्शन से प्रभावित हैं, जिसमें "मधु" एक अविच्छिन्न अंग है । डा॰ नामवर सिंह प्रसाद जी के "मधुर" पदावली चयन के पीछे उनके आनन्दवादी दर्शन की ओर संकेत करते हैं, उनके अनुसार "जीवन की कटुता और छलना से बिंधे हुए भावुक हृदय के लिए "मधु" प्रेम स्वाभाविक है । प्रताड़ना और छलना का जैसा यथार्थ चित्र और उससे उत्पन्न होने वाली व्यथा प्रसाद में मिलती है, वैसी किसी छायावादी कवि में नहीं है । निराला में खुले रूढ़ियों के प्रहारो का दर्द है, प्रसादजी की

1॰ डा॰ नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ0 107
2॰ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 697

तरह आत्मीयों की प्रतारणा का नहीं । यही कटुता मधुमय कल्पना और "मधुर पदावली " की जननी है।"[1] प्रसादजी भावुक-हृदय रचनाकार हैं । उनकी मधुमयी प्रवृत्ति से उनकी भाषा की रचना हुई है । उनकी भाषा से गुजरते हुए कोई भी गंभीर पाठक उनकी मधुमय प्रवृत्ति को समझ सकता है । अत: उनके भाषा-संसार में भ्रमण करना एक प्रकार से आनन्द-लोक में भ्रमण करने के समान है । इस आनन्दलोक में रहस्यमयता का भाव होता है। प्रसाद जी की भाषा की एक खास विशेषता है ।

प्रसादजी की भाषा की प्रकृति को देखकर प्रतीत होता है कि उनकी भाषा मुख्यत: पद्य की भाषा है । पद्य में गद्य की अपेक्षा भाषा अधिक कोमल होती है जो छायावादी काव्य-भाषा के अनुकूल है क्योंकि भाषा में कोमलता प्रसादकालीन साहित्य में खड़ी बोली की खड़खड़ाहट दूर करने की ऐतिहासिक माँग थी । इसकी पृष्ठभूमि में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के बीच का संघर्ष भी है । नवणात खड़ी बोली की खरखराहट, कर्णपटुता, परूषता और कठोरता के कारण ब्रजभाषा समर्थक मानते हैं कि खड़ी बोली गद्य की भाषा है पर पद्य की भाषा नहीं जबकि छायावादी कविगण खड़ी बोली में कविता की रचना करते हैं। ऐसी स्थिति में संघर्ष स्वाभाविक हो उठता है, इसीलिए छायावादी कविगण तत्सम शब्दों का प्रयोग खड़ीबोली की कोमलता प्रदान करने के लिए करते हैं। ब्रजभाषा में भी कोमल पद-रचना संभव था लेकिन उस भाषा में सामंती अभिरुचि से पगी रीतिकालीन रचना होने के कारण छायावादी कवि भाषा का विरोध

1.डा. नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ0 107

करते हैं। इस प्रकार प्रसाद जी तत्सम प्रधान कोमलकांत पदों से युक्त खड़ी बोली का प्रयोग अपनी कविता में नहीं बल्कि गद्य-साहित्य में भी करते हैं । पद्य की स्वच्छंदतावादी भाषा का ही विकास उनके गद्य साहित्य में एक सीमा तक हुआ है लेकिन एक सीमा के पश्चात जीवन की खरखराहट समाज, राष्ट्र की हलचलों का दबाव उनकी भाषा पर भी पड़ती है और भाषा खट् की आवाज करती हुई पद्य की पटरी से उतर कर गद्य की पटरी पर आ जाती है ।

प्रसादजी के नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में भाषा पद्य-भाषा के निकट और प्राय: दुरूह है जबकि साहित्यकी इन विधाओं में भाषा की सरलता, बोधगम्यता की माँग होती है तथा जब रचना यथार्थवादी हो तो भाषा भी ऐसी हो, जो रचना के यथार्थ को एक झलक में पाठक प्रस्तुत कर दे । प्रसादजी के यहाँ पद्यात्मक-गद्य की भाषा में जीवन का यथार्थ जादू-सा प्रतीत होता है; यही सच्ची कलाकृति होती है जिसमें जीवन का सत्य रचनाकार की कल्पनाओं भावनाओं और सुंदर कोमलकांत पदों से युक्त भाषाओं में इस तरह अनुस्यूत हो जाय कि जीवन की वास्तविकता भ्रम-सा लगे जो अर्न्स्ट फिशर की दृष्टि में कलाकृति के प्रति आकर्षण है ।इसी आकर्षण में जीवन के बहुस्तरीय यथार्थ उभरते हैं । किसी भी रचना का सत्य उसकी भाषा में ही उद्घाटित होता है अर्थात " कलाकृति का सत्य शब्दों के विशिष्ट संयोजन में ही उद्घाटित होता है, यह भी उतना ही सत्य है कि वह सत्य कलाकृति की भाषा को भी अपनी विशिष्ट गुणात्मकता में उजागर करता है।

---

1. अशोक बाजपेयी- पूर्वग्रह, पृ0 45

प्रसादजी की कहानी की भाषा में जीवन के सत्य का उद्‌घाटन करने की क्षमता है । ऐतिहासिक परिवेश और रचनाकार के दार्शनिक विचार के परिप्रेक्ष्य में भाषा अपने युग के सत्य को समेट लेती है और शब्दों, पदों, वाक्यों के विशिष्ट संयोजन से भाषा पूर्ण होकर युग के सत्य का उद्‌घाटन करती है । जिस प्रकार कहानी अपनी रचना-प्रक्रिया में यथार्थ को अनुस्यूत कर लेती है, उसी प्रकार भाषा के आंतरिक बुनावट की अंत:क्रिया में यथार्थ होता है । "भाषा का यथार्थ" ही कहानी या किसी भी साहित्यिक विधा की भाषाओं से गुजरने के बाद प्राप्त होता है । " यथार्थ की भाषा " किसी भी रचना प्रक्रिया के सत्य के उद्‌घाटन में रचनाकार के मन में पूर्व-नियोजित भाषा तय होती है जो रचना में आने वाले पूर्वनियोजित यथार्थ के अनुकूल होता है ।

प्रसादजी की आरम्भिक कहानियों में भाषा तत्सम और सामासिक है लेकिन कहानी की विकास-प्रक्रिया में कहानियों में "भाषा का यथार्थ " उलटकर " यथार्थ की भाषा" का रूप ग्रहण करता जाता है जो प्रसादजी की स्वच्छंदतावादी कल्पना और भावना के आहत होने की ओर संकेत करता है अर्थात उनकी भाषा युग की वास्तविकता और समस्या से जुझती है और "भाषा का यथार्थ" से "यथार्थ की भाषा" की ओर भाषा अग्रसर होती है।

प्रसादजी का कहानी संकलन छाया(सन् 1912 ई.), प्रतिध्वनि (सन् 1926 ई.) आकाशदीप (सन् 1929 ई.) की कहानियों में भाषा

कल्पनाशील और इन्द्रजालिक है, जिसमें रचना-प्रक्रिया से गुजरने के साथ-साथ भाषा से भी पाठक गुजरते हैं । परिणाम यह होता है कि विभिन्न चरित्रों, परिस्थितियों, वातावरणों और संवादों आदि की प्रकृतियों के अनुकूल शब्दों, पदों, वाक्यों आदि से पाठक साक्षात्कार करता है जिसमें यथार्थ की झलक मिलती है;उनके संयोजनों से रचना में व्यक्त यथार्थ का पूरा दृश्य भाषा प्रक्षेपित करती है । प्रसादजी के अन्य कहानी-संकलन आँधी (सन् 1931 ई॰) और इन्द्रजाल (सन् 1935-36 ई॰) की कहानियों में दोनों तरह की भाषाएं "यथार्थ की भाषा " और " भाषा का यथार्थ " मिलती हैं । इस प्रकार उनकी अंतिम कहानी " सालवती " तक में भाषा के विकास को देखा जा सकता है उनकी भाषा पैंटेसी है, लेकिन उससे निकलने में उनमें किसी प्रकार का मोह नहीं है और तभी भाषा विकास कर पाती है । " उनके पद चयन में क्रमिक विकास स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है । " प्रभुवाहन" और "उर्वशी " आदि गद्य-खंडों से "आकाशदीप" तक का विकास चण्डीप्रसाद "हृदयेश" से ठेठ छायावादी " प्रसाद" तक का विकास है । इसके बाद "सालवती" तक जाते-जाते भाषा की अलंकृति वास्तविकता के अधिक निकट तथा यह सोपान-पंक्ति नाटक और कविता में भी देखी जा सकती है ।"[1] प्रसादजी युग की हलचलों से आँख नहीं चुराते, इसी-लिए उनकी भाषा भी युग की समस्याओं से जूझती है उनकी भाषा की प्रकृति उनकी कहानियों से गुजरने के पश्चात् ही पता लग पाता है । प्रसादजी यथार्थपरक भाषा की माँग "छाया" प्रतिध्वनि और "आकाशदीप" कहानी

---

1. डा॰ नामवर सिंह- इतिहास और आलोचना, पृ0 108-109

-संकलनों की सम्पूर्ण कहानियों में नहीं कर पाते, लेकिन कहानी की रचना-प्रक्रिया से गुजरने पर कहीं-कहीं भाषा यथार्थ के करीब होती है या यथार्थ-परक हो उठती है जो कहानी के विषय वस्तु के यथार्थ को भी उतनी ही संजीदगी से उभारती है । छायावादी भाषा- संस्कार तो उनकी भाषा में निहित है लेकिन उसके बीच पात्रों की स्थिति, उनकी ऐतिहासिकता आदि के अनुकूल तत्सम शब्दों से लदी कहानियों के मध्य सरल, सुबोध शब्दों का चयन भी कहानियों के मर्म तक पहुँचने में सहायता करते हैं । सघन भाव-नात्मक क्षणों में प्रसाद जी की भाषा रहस्यमय हो जाती है, जो कहानी की भाषा से बिल्कुल अलग प्रतीत होती है । यह प्रसादजी की भाषा की सीमा है, जो उस युग की छायावादी सीमा है ।

"प्रतिध्वनि" कहानी संकलन की कहानी" "प्रतिमा" की भाषा रहस्यमय है, आध्यात्मिक रहस्य की गूँज है । प्रतिमा की भाषा " में अनन्त काल तक तरंगों का आघात, वर्षा, पवन, धूप से तथा मनुष्यों के अपमान श्लाघा से बचने के लिए गिरिगर्भ में छिपा पड़ा रहा, मूर्ति मेरी थी या मैं स्वयं मूर्ति था, यह संबंध व्यक्त नहीं था । निष्ठुर लौह-अस्त्र से जब काटकर भी अलग किया गया, तब किसी प्राणी ने अपनी समस्त सहृदयता मुझे अर्पण की, उसकी चेतावनी मेरे पाषाण में मिली, आत्मानुभव की तीव्र वेदना, यह सब मुझे मिलते रहे, मुझमें विभ्रम था, विलास था, शक्ति थी ।"[1] भाषा रहस्यमय अवश्य है पर सत्य इसमें अनुस्यूत है । कुंजविहारी सघन भावना के दबाव में

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 101

मूर्ति की सत्ता के प्रति अविश्वास व्यक्त करता है क्योंकि भयानक शिकारी उसकी प्राणप्यारी पत्नी सरला की जान ले लता है । कुंजबिहारी प्रस्तर प्रतिमा के समक्ष पूजा-अर्चना करता है, लेकिन कुछ नहीं होता और तब पत्थर से बने देव-प्रतिमा की पूरी कहानी भाषा में अनुस्यूत हो जाती है।प्रसादजी की इस तरह की रहस्यमयी भाषा को "छाया" कहानी संकलन की "मदन-मृणालिनी" में कई स्थलों पर दृष्टगत होती है । " किशोर और मृणालिनी दोनों ने देखा कि गरूए रंग का कपड़ा पहिने हुए एक व्यक्ति दोनों को हाथ जोड़े हुए जहाज पर खड़ा है और जहाज शीघ्रता के साथ समुद्र के बीच में चला जा रहा है । मृणालिनी ने देखा कि बीच में अगाध समुद्र है।"[1]

प्रसादजी प्रकृति के वर्णन, सुबह-शाम के वर्णनों में शब्दों की इतनी बौछार कर देते हैं कि एक जादुई दुनिया खड़ी हो जाती है "रसिया बालम" की भाषा में शाम का वर्णन इस प्रकार है " संसार को शांतिमय करने के लिए रजनी देवी ने अभी अपना अधिकार पूर्णत: नहीं प्राप्त किया है । अंशुमाली अभी अपने आधे बिम्ब को प्रतीची में दिखा रहे हैं ।"[2] "चित्तौर-उद्धार" में सुहाग-रात के प्रथम मिलन के कुछ क्षण पहले का वातावरण का दृश्य भाषा में इस प्रकार गुंफित है-" दीपमालाएँ आपस में कुछ हिल-हिलकर इंगित कर रही हैं, किन्तु मौन हैं । सज्जित मंदिर में लगे हुए चित्र एकटक एक-दूसरे को देख रहे हैं, शब्द नहीं हैं । शीतल समीर आता है, किन्तु धीरे से वातायन-पथ के पार हो जाता है, दो सजीव चित्रों को देखकर वह कुछ नहीं

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियां, पृ0 23
2. वही वही पृ0 35

कह सकता है । पर्यंक पर भाग्यशाली मस्तक उन्नत किए हुए चुपचाप बैठा हुआ युवक, स्वर्ग, पुन्तली की ओर देख रहा है,जो कोने में निर्वात दीपशिखा की तरह प्रकोष्ठ को आलोकित किये हुए है । नीरवता का सुंदर दृश्य, भावविभोर होने का प्रत्यक्ष प्रमाण, स्पष्ट उस गृह में आलोकित हो रहा है ।" [1] डा॰ नामवर सिंह के अनुसार " आज का लेखक जहाँ "साँझ हो गयी " कहकर संतोष कर लेगा, वहीं प्रसाद की लेखनी जादुई दुनिया खड़ी कर देती है । " [2]

प्रसादजी कहानी में चित्रित पात्रों की सामाजिक, राजनैतिक,सांस्कृतिक धार्मिक स्थितियों के अनुकूल भाषा में शब्दों का चयन करते हैं जो भाषा के प्रति उनकी यथार्थ-दृष्टि की ओर संकेत करते हैं । "तानसेन" कहानी का पात्र रामप्रसाद और ग्वालियर दुर्ग का किलेदार (सरकार) के बीच तथा सरदार और उसकी पत्नी के बीच के संवादों में अंतर पात्रों की स्थितियों के अनुकूल है । उदाहरण इस प्रकार है " सरदार-(हँसकर) भला ! उसका नाम क्या है?
सरदार पत्नी - वही, सौसन- जिसे मैं देहली से खरीदकर लाई हूँ ।
सरदार - क्या खूब ! अजी, उसको तो मैं रोज देखता हूँ । वह गाना जानती होती, तो क्या मैं आज तक न सुन सकता ।
सरदार-पत्नी - तो इसमें बहस की कोई जरूरत नहीं है । कल इसका और रामप्रसाद का सामना कराया जावे ।
सरदार - क्या हर्ज ।" [3]

---

1. डा॰ नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना, पृ0 102
2. वही वही , वही
3. जयशंकर प्रसाद- प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 11

प्रसादजी कहानी में नाटक शैली का भी प्रयोग करते हैं, जिसमें भाषा सरल और परिवेश के अनुकूल होती है । सरदार और उसकी पत्नी के बीच के कथोपकथन में भाषा में तद्भव, देशज और विदेशज शब्दों का सुंदर प्रयोग हुआ है । प्रसाद जी की कहानी "ग्राम" में वातावरण का चित्रण तत्सम शब्दों के माध्यम से होता है । लेकिन 20वीं शती की आधुनिक रोशनी से अभिभूत युवक मोहनलाल की वेश-भूषा और बातचीत को बड़े ही सुंदर ढंग से प्रसाद जी प्रस्तुत करते हैं जिसमें तदभव, देशज, विदेशज शब्दों की कमी नहीं ।

"टन! टन! टन! स्टेशन पर घंटी बोली ।" [1] "पागलों के समान बड़बड़ाती हुई अपनी धुन की पक्की रेलगाड़ी स्टेशन पर पहुँच गई । धड़ाधड़ यात्री लोग उतरनेमचढ़ने लगे ।" [2] स्टेशन मास्टर, बूट, ईंटिंग कोट, साफा, शेकहैंड, कारिन्दा, इलाका, इंस्पेक्शन, पलटियेगा, गुडइवनिंग, लाइन किलयर आदि ऐसे शब्द प्रसादजी की आरम्भिक कहानियों में हैं जो यह सिद्ध करता है कि प्रसाद जी अंग्रेजी-शासन में भारत में हो रहे परिवर्तन को ध्यान से देखते हैं और उसे तथा उसके शब्दों को अपनाने से हिचकिचाते नहीं । "देवदासी" कहानी पत्रशैली में रचित है । जहाँ अशोक रमेश से संबोधित है, भाषा सरल है लेकिन जैसे ही अशोक मंदिर, भारतीय संस्कृति और धर्म की चर्चा करता है, भाषा तत्सममय हो जाती है वस्तुत: प्रसादजी का यह छायावादी संस्कार है ।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 19
2. वही वही पृ0 20

"आँधी" और " इंद्रजाल" कहानी संकलनों में कहानियों की भाषाएँ अधिक यथार्थपरक हैं क्योंकि इन कहानियों में जीवन-जगत् की समस्याओं से प्रसादजी जूझते हैं । " मधुआ" कहानी के इस अवतरण " ठाकुर साहब ठठाकर हँसने लगे । पेट पकड़कर हँसते-हँसते लोट गये । साँस बटोरते हुए सम्हलकर बोले - और बड़प्पन कहते किसे हैं ? कंगाल तो कंगाल ! गधी लड़की ! भला उसने कभी मोती देखे थे, चबाने लगी होगी । मैं सच कहता हूँ, आज तक तुमने जितनी कहानियाँ सुनाई, सब में बड़ी टीस थी । शाहजादों के दुखड़े रंग-महल की अभागिनी बेगम के निष्फल प्रेम, करूप-कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियाँ ही तुम्हें आती हैं, पर ऐसी हँसाने वाली कहानी और सुनाओं तो मैं अपने सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूँ ।" [1] से स्पष्ट होता है कि प्रसादजी की असीम और सघन कल्पना धीरे -धीरे छँटती है और "आँधी" और "इन्द्रजाल" की कहानियों में भाषा अधिक वास्तविक और यथार्थपरक हो उठती है । यदि प्रसादजी की आरम्भिक कहानियों की भाषाओं से इन दो संकलनों की कहानियों की भाषाओं की तुलना की जाय तो उनके भाषा-विकास का पता चलता है और आश्चर्य भी होता है । " घीसू " कहानी " घीसू ने सुना, बिन्दो कह रही थी -- मैं कुछ नहीं हूँ लेकिन तुम्हारे साथ मैंने धरम बिगाड़ा है । सो इसलिए नहीं कि तुम मुझे फटकारते फिरो । मैं इसका गला घोंट दूँगी और भी .....बदमाश ..।

— ओहो । मैं बदमाश हूँ । मेरा ही खाती है और मुझसे ही ....ठहर तो, देखूँ किसके साथ तू यहाँ आई है, जिसके भरोसे इतना बढ़-बढ़कर बातें कर रही है। पाजी..... कुत्ती ...भाग, नहीं तो छुरा भोंक दूँगा।" [2] के साथ

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0208-209
2. वही वही पृ0 227

"आँधी" और "इन्द्रजाल" की लगभग सारी कहानियों की भाषाएँ यथार्थपरक हैं " छोटा जादूगर" जैसी सामान्य सी कहानी से उनकी प्रस्तुति और भाषा-संस्कार का यह उदाहरण द्रष्टव्य है -" कार्निवल के मैदान में बिजली जगमगा रही थी ।..... मैं खड़ा था । उस छोटे फुहारे के पास जहाँ एक लड़का चुपचाप शराब पीनेवालों को देख रहा था । "[1]

प्रसादजी की कहानियों की भाषा कहानी के विकास प्रक्रिया में जीवन के निकट आ जाती है । ऐतिहासिक कहानियों के पात्रों के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग दृष्टिगत होता है । गुलाम, जहाँनारा, सलीम आदि मुस्लिम परिवेश की कहानियाँ हैं, जिसमें प्रसादजी उर्दू शब्दों का भाषा में प्रयोग करते हैं । "गुलाम" कहानी की भाषा "साहब- बोलो मंसूर ! चुप क्यों हो ? क्या वह एहसान - फरामोश है ?
मंसूर-हुजूर ! फिर गुलाम खिदमत में बुलाया जावे ? "[2] में परिवेशीय भाषा का प्रयोग है ।

"अमिट स्मृति" और "गुंडा" आदि कहानियों की भाषाओं में बनारसी बोली का प्रभाव दृष्टिगत है । "अमिट स्मृति" कहानी की भाषा -" अरे, वह महालक्ष्मी ऐसी ही रहीं । उनके लिए जो कुछ न हो जाय, थोड़ा है।"[3] और "गुंडा" कहानी की भाषा -" मलुकिया देखता है, अभी जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लगाने के लिए खड़े हैं । समझकर आवें, लड़के की बारात है ।"[4]

---

1. जयशंकर प्रसाद -प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, पृ0 272
2. वही वही पृ0 51
3. वही वही पृ0244
4. वही वही पृ0 316

प्रसादजी की भाषा में यथार्थ की पकड़ की क्षमता अपने साहित्यिक विकासक्रम में विकसित होती जाती है । उनकी आरम्भिक कहानियों की अपेक्षा बाद की कहानियों में भाषाएँ यथार्थपरक हैं और कुछ कहानियों की भाषाएँ तो यथार्थवादी हैं । अत: प्रसादजी की भाषा की विकास-प्रक्रिया तथा रचना-प्रक्रिया में व्यवहरित भाषाओं के अंदर से भाषा के यथार्थ देखना चाहिए ।

xxx

उपसंहार

रचनाकार की चेतना में बोधगम्य जगत् के यथार्थ का प्रतिबिम्बन होता है और वह अपनी संवेदनात्मक अनुभूति, कल्पना,भावना से उसे रचना में चित्रित करता है । यह तो वस्तुवादी या भौतिकवादी दृष्टिकोण है, इसके विपरीत आत्मवादी रचनाकार जीवन-जगत् में अदृश्य संसार की नियामक सत्ता से नियंत्रित चेतना के माध्यम से रचना में यथार्थ का चित्रण करता है लेकिन इस यथार्थ में आत्मपरकता इतनी सघन होती है कि यथार्थ की खोज की प्रक्रिया आवश्यक हो जाती है । भौतिकवादी व आत्मवादी दोनों एक दूसरे के जीवन-जगत् के प्रति धारणाओं को अस्वीकार करते हैं; दोनों प्रकार के रचनाकार जगत् की सारी क्रियाशीलता को अपने तरीके से व्याख्या करते हैं ।

आत्मवादी और भौतिकवादी दृष्टिकोणों में अन्तर के बावजूद, वे जीवन की मूलभूत समस्याओं से जूझते हैं । भौतिकवादी जीवन की जरूरत को संसार की विकास-प्रक्रिया में आवश्यक मानते हैं और आत्मवादी जीवन की जरूरत को अदृश्यशक्ति से प्रेरित मानते हैं, साथ ही इसे जीवन की माया कहकर जीवन से मुक्ति का प्रयास करते हैं । मुक्ति के प्रयास में ही वह अधिक से अधिक आत्मपरक होता जाता है, फलत: रचना में अत्यधिक आत्मपरकता का चित्रण हो जाता है लेकिन इस आत्मपरकता या शून्यता के दर्शन में

रचनाकार या ऐसा व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकता से नहीं भाग सकता । समाज, उसकी विषमता, प्रेम आदि से वह टकराता है । भौतिकवादी रचनाकारों और उनमें फर्क केवल इतना भर है कि आत्मवादी उसे अध्यात्म से जोड़ देता है । आत्मवादी भी उसी तरह से जीवन जगत को चेतना में प्रतिबिम्ब के माध्यम से देखता है जिस तरह भौतिकवादी देखता है क्योंकि अदृश्य संसार का आदर्श और वास्तविकता की खाई को बाह्य संसार की सक्रियता पाटती है । वस्तुत: यह सक्रियता आत्मवादी रचनाकार को जगत् की समस्याओं के निकट लाने का प्रयास करती है । ज्यों-ज्यों समाज की समस्याएं सघन और विषम होती जाती हैं, रचनाकार आत्मपरक आध्यात्मिक आदर्श या भाववादी जगत् से भौतिक जगत के निकट आने लगता है और इस प्रक्रिया में रचनाकार भावशैली में यथार्थ चित्रण करता जाता है प्रसादजी ऐसे ही रचनाकार हैं । परम्परागत साहित्यिक यथार्थवाद साहित्यिक सृजन को पीछे छोड़कर सदैव यथार्थ को ही आगे रखता है;वहाँ पाठकों की साहित्यिक अभिरूचियाँ धीरे-धीरे कुंद होने लगती हैं।प्रसादजी साहित्य में यथार्थ का चित्रण कंकाल की तरह नहीं करना चाहते हैं, वे कल्पना फैंटेसी, संवेदना, अनुभूति आदि के आवृत में यथार्थ के चित्रण के पक्षधर हैं ।

यथार्थवाद और विचारधारा एक दूसरे से सहयोग करके रचना के अन्तर्गत आते हैं । प्राय: रचनाकार की विचारधारा रचना में चित्रित यथार्थ में अनुस्यूत विचारधारा के अनुकूल होता है, इसके विपरीत रचनाकार की विचारधारा के प्रतिकूल रचना में चित्रित यथार्थ में अनुस्यूत विचारधारा होती है । ऐसा प्राय: सघन रचनात्मक प्रक्रिया-क्रम में घटित होता है ।

मुख्य बात यह होना चाहिए कि रचनामेंचित्रित यथार्थ और विचारधारा के बीच का संबंध सर्जनात्मक हो । प्रसादजी कई बार, अपनी घोषित वैचारधारा के प्रतिकूल कहानी, उपन्यास और नाटक में यथार्थ का चित्रण करते हैं । अपने निबन्धों में इस स्थापना के प्रतिकूल वे खड़े दिखाई देते हैं "देवदासी", "विराम-चिन्ह" आदि ऐसी कहानियां हैं जिसमें द्वन्द्व की आर्य संस्कृति से महिमामंडित हिन्दू-व्यवस्था और उससे नि:सृत जाति-व्यवस्था पर प्रसादजी क्रूर प्रहार करते हैं । "सालवती " आदि कुछ कहानियों में प्रसादजी के विचार पर बौद्ध विरोधी होने का आरोप कुछ विद्वानों ने लगाया है; विशेषकर "सालवती" कहानी की इन पंक्तियों "वैशाली को अब वेश्याओं की अधिक आवश्यकता थी।"[3] कहानी में चित्रित घटनाक्रम ही ऐसा है । संपूर्ण वैशाली राष्ट्र अभय कुमार और उसके आठ कुलपुत्र भिक्षुगण की प्रगतिशील बातें, मगध राष्ट्र के महामंत्री जिसे वैशाली के राष्ट्र धर्म से चिढ़ है और मणिधर के फैलाए राजनीतिक धार्मिक षड़यंत्र में दब जाती हैं । यदि प्रसाद जी बौद्धविरोधी होते तो वैशाली राष्ट्र में सालवती के माध्यम से राजसत्ता-समर्थित वेश्यावृत्ति के बंद होने की घोषणा नहीं कराते, इसके अतिरिक्त कहानी का अंत एकमहान प्रगतिशील घटना के साथ नहीं कराते, जब अभयकुमार और आठ कुलपुत्र वेश्याओं से शादी करते हैं और नारी-जीवन को वेश्या से उठाकर उसे हक प्रदान करते हुए पत्नी के पद से मंडित करते हैं । अत: उन्हें बौद्ध विरोधी नहीं कहा जा सकता । यदि ऐसा है तो "देवदासी,"विराम चिन्ह" आदि कहानियाँ

वे लिखते ही नहीं,ऐसा लगता है कि सामाजिक-विकास-प्रक्रिया में रचना-कार की विचारधारा परिवर्तित और विकसित भी होती है । प्रसादजी समाज परिवर्तन के अनुकूल विचारधारा को अपनाते हैं । प्रसादजी फैंटेसी-रचना-प्रक्रिया में यथार्थ को अनुस्यूत कर देते हैं । जब पाठक इससे गुजरता है, तो बिजली की कौंध की तरह सत्य से साक्षात्कार करता है ।अत: इनकी कहानियों की रचना-प्रक्रियाओं से यात्रा करते हुए यथार्थ से परिचय प्राप्त किया जा सकता है लेकिन वे ज्यों-ज्यों सामाजिक विकास-क्रम में समस्यामूलक समाज से टकराते हैं, वैसे- वैसे उनकी कहानियाँ अत्यधिक यथार्थ-परक होती गई हैं । अकेले "विराम चिन्ह " कहानी के आधार पर वे यथार्थवादी कहानीकार हैं, यद्यपि इस क्रम में "देवदासी" "बेड़ी", "मधुआ" "सालवती"आदि कहानियाँ हैं जो मेरी धारणा को और भी पुष्ट करती हैं।

प्रसादजी अपने युग के सत्य को भी "सलीम,"छोटा जादूगर" आदि कहानियों से व्यक्त करते हैं । कहानियों की प्रतीकात्मकता में भी उनके युग का यथार्थ दृष्टिगत होता है । प्रसादजी की भाषा युग के विकास के अनुसार युग की संवेदना को स्वयं को बदलकर समेट लेती है । "मधुआ" "छोटा जादूगर" आदि कहानियों में यथार्थ की भाषा है जबकि भाषा का यथार्थ या भाषा में अनुस्यूत यथार्थ उनकी आरम्भिक कहानी संकलन "छाया" से लेकर इंद्रजाल तक में अतंर्व्याप्त है । अत: हिन्दी कहानी-विकास-यात्रा में जयशंकर प्रसादजी की कहानियों में यथार्थबोध विद्यमान है ।

××××

परिशिष्ट

सन्दर्भ-ग्रंथ

1. सं॰डा॰अर्जुन शतपथी, मधुसूदन साहा- जयशंकर प्रसाद परिपेक्ष्य एवम् परिदृष्य, प्र॰सं॰ पराग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली।।0 032

2. अर्न्स्ट फिशर - कला की जरूरत, प्रथम संस्करण 1990
अनु॰रमेशउपाध्याय
राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-2

3. जार्ज लुकाच - उपन्यास का सिद्धांत, प्रथम द्वितीय सं॰ 1987
अनु॰ आनन्द प्रकाश, प्रकाशन मैकमिलन इंडिया लिमिटेड

4. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद की संपूर्ण कहानियाँ, प्रथम संस्करण 1988
भारती भाषा संस्करण, दिल्ली-32

5. जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध सर्वप्रथम परिवर्द्धित एवम् संपादित संस्करण 1983
प्रसाद प्रकाशन, प्रसाद मंदिर, गोवर्द्धन सराय, वाराणसी

6. त्रिभुवन सिंह - हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, चतुर्थ संस्करण, 10 अप्रैल 1965
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-।

7. डा॰ नामवर सिंह - इतिहास और आलोचना चौथा संस्करण
राजकमल प्रकाशन प्रा॰लि॰, सुभाष मार्ग, न॰दिल्ली-110 002

8. डा॰ नामवर सिंह - कहानी: नयी कहानी, संस्करण 1989
लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद ।

9. सं॰नेमिचंद्र जैन - मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4 प्र॰सं॰ 1985
राजकमल प्रकाशन, प्रा॰लि॰, सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110 002

10. सं॰नेमिचंद्र जैन - मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5 प्र॰सं॰1985
राजकमल प्रकाशन प्रा॰लि॰ सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002

11. सं॰डा॰ प्रभाकर शर्मा - प्रसाद: समग्र अनुशीलन
ग्रंथायन, सर्वोदय नगर, अलीगढ़-202 001

12· प्रेमचंद - साहित्य का उद्देश्य वर्तमान सं· 1967
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद ।

13·डा·मैनेजर पांडेय -साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, प्र·सं·1989
हरियाणा साहित्य अकादेमी, चंडीगढ़ ।

14·रत्नशंकर प्रसाद- प्रसाद ग्रंथावली (प्रसाद वाङमय खंड 4)
लोकभारती प्रकाशन 15-8 महात्मागांधी मार्ग,इलाहाबाद

15·रामविलास शर्मा - परम्परा का मूल्यांकन,प्रथम संस्करण-1981
राजकमल प्रकाशन प्रा·लि· सुभाष मार्ग,नई दिल्ली-110 002

16·शिवकुमार मिश्र - मार्क्सवादी साहित्य चिंतन इतिहास तथा सिद्धांत प्र·सं·1973
मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादेमी भोपाल

17·डा· शिवकुमार मिश्र - दर्शन, साहित्य और चिंतन, प्र·सं· 1981, पीपुल्स लिटरेसी, 5117, मटियामहल, दिल्ली-110006.

18·हावर्ड फास्ट - साहित्य और यथार्थ
अनु·विजय सुषमा
पीपुल्स लिटरेसी मीटयामटाल,दिल्ली 110 006

सहायक-ग्रंथ

1· फ्रेडरिक जेक्सन -ऐस्थेटिक एंड पोलीटिक्स
वर्सो एडीशन 7 कार्लीस्ले स्ट्रीट, लंडन

2· रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद द्वीतीय सं· 1987
राजकमल प्रकाश प्रा·लि·, सुभाष मार्ग, नई दिल्ली,110002

पत्रिकाएँ

1· डा· अशोक बाजपेयी - पूर्वग्रह 98-99 मई,अगस्त 1990
भारत भवनशामला हिल्स रोड,भोपाल

2·डा·केदारनाथ सिंह - साखी,अक्टूबर-दिसम्बर-92
प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर

3· डा· नामवर सिंह - आलोचना 18,जुलाई-सितम्बर 1971
राजकमल प्रकाशन प्रा·लि·, सुभाष मार्ग,नई दिल्ली-110 002

4· डा· नामवर सिंह - आलोचना,जनवरी-मार्च 1975, आलोचना -84 ज·-मा· 1984
राजकमल प्रकाश प्रा·लि·, सुभाष मार्ग,नई दिल्ली-110 002

5· प्रकाश आतुर - मधुमती, 1988, 1989.
राजस्थान प्रकाशन ,लक्ष्मी नारायण नंदलाल,साहित्य अकादमी
उदयपुर-313 001

6· शंभूनाथ -- समकालीन सृजन, संयुक्तांक 4-6, अक्टूबर'88 - जून89'
भारतीय साहित्य संस्थान की ओर से प्र· 20 बालमुकुन्द रोड
कलकत्ता- 700 007

7· हरिहर प्रसाद - प्रस्ताव 6 मार्च 1989
प्रस्ताव प्रकाशन भागीरती लेन महेन्द्रू, पटना- 800 006

xxx